क ख ग

विचारों का त्रैमासिक

१२

आधुनिकीकरण में बौद्धिक वर्ग की भूमिका

इतिहास

स्थिति

दिशा

अप्रैल

१९६६

क ख ग

(विचारों का त्रैमासिक)

हरिमोहनदास टण्डन
(कोषाध्यक्ष और व्यवस्थापक)
५७, रानीमण्डी, इलाहाबाद

रघुवंश
(संयोजक)
१८४-ए, एलनगंज, इलाहाबाद

क ख ग के प्रस्तावक

रामसिंह तोमर	:	बदरीविशाल पित्ती	:	हरिमोहनदास टण्डन
कुँवर नारायण	:	विनयमोहन शर्मा	:	ओमप्रकाश शर्मा
देवराज	:	विद्यानिवास मिश्र	:	गोविन्दचन्द्र पाण्डेय
राकेश गुप्त	:	नरेशचन्द्र चतुर्वेदी	:	नित्यानन्द तिवारी
शिक्षार्थी	:	टीकमसिंह तोमर	:	उमा राव
जगदीश गुप्त	:	बालकृष्ण राव	:	प्रीति अदावल
आत्माराम शाह	:	विजयदेवनारायण साही	:	परमानन्द श्रीवास्तव
वीरेन्द्रकुमार भटनागर	:	व्रजेश्वर वर्मा	:	विनोद दुबे
गोपालचन्द्र सिंह	:	अजित कुमार	:	पूरनचन्द पुरवार
कल्याणमल लोढ़ा	:	स० ही० वात्स्यायन	:	कृष्णा जी
मलयज	:	श्यामकिशोर सेठ	:	गंगाप्रसाद विमल
		श्रीराम वर्मा		

एक अंक २॥)

वार्षिक १०)

सम्पादक : विपिन कुमार अग्रवाल
लक्ष्मीकान्त वर्मा
रामस्वरूप चतुर्वेदी
रघुवंश

सूचना

क ख ग का अंक १२ अप्रैल के बजाय जुलाई १९६६ में प्रकाशित हो रहा है। परिस्थितियों के कारण पत्र एक अंक पिछड़ गया है। अब वर्ष ४ का पहला अंक अर्थात् क ख ग १३ हम अक्टूबर में प्रकाशित कर सकेंगे। हम अपने समस्त सदस्यों तथा ग्राहकों को सूचित करते हैं कि उनके शुल्क के अनुसार ही अंक उनको मिलते रहेंगे। जिनका शुल्क वर्ष के साथ समाप्त हो गया है, वे अक्टूबर के प्रथम सप्ताह तक अपने अगले वर्ष का शुल्क भेजने की कृपा करें। यदि इस सम्बन्ध में कोई सूचना तब तक नहीं प्राप्त हुई तो अंक १३ पुराने सदस्यों को वी० पी० से भेज दिया जायगा। प्रार्थना है कि सदस्य ऐसी स्थिति में वी० पी० ज़रूर छुड़ा लें।

हरिमोहन दास टण्डन (व्यवस्थापक)
५७, रानीमण्डी,
इलाहाबाद

अनुक्रम

क ख ग

१२

अप्रैल, १९६६

भारतीय बौद्धिक परिस्थिति और आधुनिकता का संदर्भ	४	रघुवंश
आधुनिकता और भारतीय बौद्धिक वर्ग	१७	हरिहरनाथ त्रिपाठी
आधुनिकता और वर्तमान संदर्भ में भारतीय बौद्धिक वर्ग की स्थिति	२५	लक्ष्मीकान्त वर्मा
आधुनिकीकरण और भारतीय बुद्धिजीवी वर्ग की स्थिति	३९	युगेश्वर
बौद्धिक, बुद्धिजीवी और जनता	४५	रामस्वरूप चतुर्वेदी
आधुनिकता के संदर्भ में भारतीय बुद्धिजीवियों की भूमिका	५५	हरिश्चन्द्र
भारतीय बौद्धिक, कौन और कैसा	४९	विपिनकुमार अग्रवाल
आधुनिकीकरण क्या नहीं है	५८	प्रमोद कुमार गुप्त
आधुनिकता और भारत	६३	सुरेन्द्र प्रसाद नारायण सिंह
भारत का आधुनिकीकरण है क्या	६९	कृष्णनाथ
विचार-विमर्श	७५	

'विचार-केन्द्र' की ओर से ९-१० अप्रैल, १९६६, को काशी विद्यापीठ, वाराणसी, में 'भारत के आधुनिकीकरण में बौद्धिक वर्ग की भूमिका' पर तीन गोष्ठियाँ आयोजित की गयीं। पहली बैठक में पहले तीन लेख, दूसरी में अगले चार लेख और तीसरी में अन्तिम तीन लेख पढ़े गए और विचार-विमर्श हुआ। सब सामग्री विचार केन्द्र के सहयोग से क ख ग के इस अंक में दी जा रही है।

सुपरफ़ाइन प्रिंटर्स, इलाहाबाद में कामेश्वर नाथ भार्गव द्वारा मुद्रित

कृति या कृतिकार के प्रति भावक वर्ग में आस्वादन उत्पादन करना ही वास्तविक आलोचना है। इस सन्दर्भ में आज की समकालीन-आलोचना की स्थिति क्या है ? उसके प्रतिमान और मानदण्ड कहाँ हैं ? इन ज्वलन्त प्रश्नों के बीच संतुलित समाधान उपस्तित करनेवाली ये कृतियाँ हिन्दी आलोचना की अधुनातन दिशा और सीमा-सामर्थ्य की उपलब्धियों का संकेत देती हैं :

भारतीय ज्ञानपीठ

- **विवेक के रंग** : संपादक : डॉ० देवीशंकर अवस्थी

  महत्त्वपूर्ण समकालीन कृति साहित्य पर प्रकाशित गणनीय समीक्षाओं का संकलन—गत १५ वर्षों के काव्य, नाटक, उपन्यास और कथा-साहित्य का सम्यक् आकलन। अतिरिक्त रूप से संग्रहणीय

  मूल्य ७-००

- **साहित्य का नया परिप्रेक्ष्य** : डॉ० रघुवंश

  साहित्यिक मूल्य, आधुनिक काव्य, नयी प्रवृत्तियों की सच्ची और सैद्धान्तिक समीक्षा। मूल्य ५-००

- **मानव मूल्य और साहित्य** : डॉ० धर्मवीर भारती

  मानव मूल्य के सन्दर्भ में साहित्य और युगीन प्रवृत्तियों का विश्लेषण परीक्षण तथा आकलन एवं मौलिक स्थापनाएँ।

  मूल्य २-५०

- **हिन्दी नवलेखन** : डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी

  यह कृति समसामयिक लेखन का मूल्यांकन तो है ही, उसके मूल्यों, प्रतिमानों के आकलन और भावबोध के स्तरों को उद्‌घाटित करने का सशक्त प्रयत्न भी है। मूल्य ४·००

प्रधान कार्यालय : ९, अलीपुर पार्क प्लेस, कलकत्ता--२७
प्रकाशन कार्यालय : दुर्गाकुण्ड रोड, वाराणसी
विक्रय-केन्द्र : ३६२०।२१, नेताजी सुभाष मार्ग, दिल्ली-६

भारत के आधुनिकीकरण में बौद्धिक वर्ग की भूमिका

गोष्ठी में मुख्य रूप से निम्न प्रश्न विचार विमर्श के आधार थे :—

(१) क्या आधुनिकीकरण का प्रारम्भ भारत में अंग्रेज़ी राज के साथ हुआ ? या आधुनिकीकरण के दौर भारतीय इतिहास में पहले भी आये हैं ? भारत के आधुनिकीकरण में अंग्रेज़ी राज की क्या भूमिका रही है ? अंग्रेज़ी राज भारतीय जीवन के विकास में किस प्रकार साधक अथवा बाधक रहा है ?

(२) क—आधुनिकता है क्या ? पश्चिमीकरण, औद्योगीकरण , अभिनवीकरण, विज्ञान-वाद, भौतिकवाद, ऐहिकतावाद, समसामयिकता आदि आधुनिकता से कैसे भिन्न हैं और इनका आधुनिकता से क्या संबंध है ?

ख —बौद्धिक वर्ग में हम किन-किन को शामिल करें ? बौद्धिक और बुद्धिजीवी में क्या कोई अंतर है ?

ग—बौद्धिक वर्ग और जनता के बीच संप्रेषण की कौन सी समस्याएँ हैं और उनका क्या हल है ?

(३) भारत में आधुनिकता का आज क्या स्वरूप है ? सामाजिक, सांस्कृतिक, शैक्षिक, राजनीतिक, आर्थिक और प्राविधिक मामलों में आधुनिकता किस रूप में साधक अथवा बाधक हो रही है ? समाज के विभिन्न वर्गों पर, विशेषकर बुद्धिजीवियों पर आज आधुनिकता का कैसा प्रभाव पड़ रहा है ? सामाजिक प्रवृत्तियों और मूल्यों के बनाने-बिगाड़ने में आधुनिकता की क्या भूमिका रही है ?

(४) भारत में आधुनिकता का सही रूप क्या हो ? आधुनिकीकरण की प्रक्रिया में यहाँ के बौद्धिक वर्ग के क्या दायित्व हैं ? जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में विकास का हमारा लक्ष्य क्या हो ? इन लक्ष्यों की पूर्ति किन उपायों से होगी ? क्या हम व्यावहारिक स्तर पर ऐसे तरीक़ों को अपना सकते हैं जो हमें अपने लक्ष्य तक पहुँचा सकें ?

(५) आधुनिकीकरण की प्रक्रिया के दौरान 'राष्ट्रीयता बनाम अन्तर्राष्ट्रीयता' की समस्या का उचित हल कैसे निकाला जाय ? विश्व के विभिन्न देशों के बीच सामरिक शक्ति संतुलन और आर्थिक विषमताओं के साथ-साथ दुनियाँ में अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के बदलते हुए स्वरूप को ध्यान में रख कर राष्ट्रीयता और अन्तर्राष्ट्रीयता के बीच से कैसे मार्ग बनाया जाय ?

संगोष्ठी के लिए प्रस्तुत निबंध

भारतीय बौद्धिक परिस्थिति और आधुनिकता का सन्दर्भ

रघुवंश

१—प्रस्तावना—हमारी अर्थात् हमारे देश और राष्ट्र की पहली और प्रमुख समस्या है कि यह ग़रीब, अशिक्षित, अवरुद्ध और अनेक रूढ़ियों तथा परम्पराओं से जकड़ा देश अपनी विशाल जनसंख्या के साथ आगे कैसे बढ़े ? आगे बढ़ने के बारे में सही सोचने का आज हमारा ढंग यहाँ से शुरू होता है कि देश के बहुत बड़े जन समाज की ग़रीबी कैसे दूर हो ? हम शिक्षित कैसे हों ? अपनी परम्पराओं और रूढ़ियों से मुक्त होकर हम गतिशील कैसे हों ? उन्नीसवीं शताब्दी से शुरू होने वाले पुनर्जागरण और बीसवीं शताब्दी के स्वतंत्रता आन्दोलन के दौरान में बार-बार यह भाव हमारे मन में जगा कि आज हम ग़रीब और पिछड़े हुए ज़रूर हैं, पर हमारे पास अतीत की गौरवपूर्ण परम्परा का उत्तराधिकार है। आत्मसन्तोष के लिए इसका यह अर्थ भी लगाया गया कि हम भौतिक दृष्टि से पिछड़े हुए हैं, पर आध्यात्मिक क्षेत्र में हम आज भी पश्चिम को शिक्षा देने की स्थिति में हैं। उस समय तक चल गया, क्योंकि तब हम अपनी सारी अगति, अवरुद्धता, विपन्नता का कारण विदेशी शासन मान कर निश्चित हो जाते थे। और अपने स्वाभिमान की रक्षा अतीत के सहारे कर लेना चाहते थे।

आज हमारे सामने यह स्पष्ट हो चुका है कि देश की सम्पूर्ण प्रगति का मार्ग आधुनिकीकरण और अभिनवीकरण की प्रक्रिया से गुज़रने का है। यह सम्भव नहीं है कि पश्चिम से हम विज्ञान और प्रविधि उधार ले लें और आध्यात्मिक, धार्मिक, सामाजिक, नैतिक मूल्यों को अपनी परम्परा से पा जायँ, जैसा कि भारतीय पुनरुत्थान के एक दौर के नेताओं का मनोभाव रहा है। साथ ही पश्चिम के ज्ञान-विज्ञान के साथ वहाँ के अन्य सभी मूल्यों को लेकर जमाने की चेष्टा देश की सम्पूर्ण प्रगति की दृष्टि से विफल रही है और रहेगी, यद्यपि देश के अनेक नेताओं की दृष्टि ऐसी भी रही है। वस्तुतः प्रगति एक सम्पूर्ण चेष्टा है, ऐसा नहीं होता कि हमारे बाहरी जीवन का स्वरूप और तरह का बने अर्थात् हमारी संस्थाएँ, पद्धतियाँ, प्रणालियाँ, योजनाएँ, हमारा विज्ञान, उद्योग और सारा आर्थिक ढाँचा एक प्रकार का हो और जीवनगत सारे मूल्य दूसरे स्तर पर संघटित हों। अतः देश के व्यापक और समग्र जीवन को गतिशील तथा मौलिक सर्जनशीलता से प्रेरित करने वाली आधुनिकीकरण की प्रक्रिया सभी स्तरों और क्षेत्रों को समान रूप से एक साथ गत्यात्मक बनायेगी।

आधुनिकता क्या है ? आधुनिकीकरण का स्वरूप क्या होगा ? और उसकी दिशा क्या है ? अपने देश के सन्दर्भ में इन प्रश्नों पर विचार कर लेना ज़रूरी है, बिना इसके ये सारे

प्रश्न और उनके उत्तर हमारे लिए बेमानी हो जाते हैं। इन प्रश्नों तथा समस्याओं की तह तक पहुँचने के लिए देश-विदेश, राष्ट्रीय-अन्तर्राष्ट्रीय, इतिहास की परम्पराओं और वर्तमान के समस्त सन्दर्भों का विश्लेषण और विवेचन ज़रूरी है। अभी तक ऐतिहासिक परम्पराओं का ज्ञान दूसरों से हमने प्राप्त किया है और अपनी वर्तमान परिस्थिति तथा उसके सन्दर्भों का विश्लेषण हमने दूसरों की दृष्टि से ही प्रायः किया है। आधुनिकीकरण की सही दिशा पाने के लिए ज़रूरी है कि हम समस्त परम्पराओं के इतिहास को अपनी वर्तमान स्थिति से सम्बद्ध करके देखें और अपने वर्तमान को उसके समस्त सन्दर्भों से जोड़ कर ग्रहण करें।

इसके लिए आज की भारतीय बौद्धिक परिस्थिति का सही विश्लेषण ज़रूरी है। देश की अवरुद्ध सर्जनशीलता के कारणों को विवेचित करने के लिए इसकी स्थिति का सही मूल्यांकन होना चाहिए। किसी देश, समाज या राष्ट्र की मौलिक सर्जनशीलता बौद्धिक प्रक्रियां तथा चेष्टाओं के रूप में अग्रसर होती है। देश को प्रगति करने के लिए, संचरणशील होने के लिए, मौलिक और सर्जनात्मक होने के लिए एक ऊर्जस्वी बौद्धिक चेष्टा की अपेक्षा है। इसी रचनात्मक बौद्धिक प्रयत्न से देश को आधुनिकता की वह दृष्टि मिल सकेगी जो अभिनवीकरण का चक्र प्रवर्तन कर देगी। फिर देश को नया दर्शन मिलेगा, नयी ऐतिहासिक दृष्टि मिलेगी; वह नयी सामाजिक व्यवस्था को स्वरूप प्रदान करेगा, नये आर्थिक सिद्धान्तों की खोज करके उनके आधार पर अपनी योजनाओं का नियोजन करेगा और अन्ततः उसे वर्तमान के व्यापक सन्दर्भ में यथार्थ को ग्रहण करने और उसके अनुकूल आधुनिकीकरण को शुरू करने की वैज्ञानिक दृष्टि और प्राविधिक क्षमता मिल सकेगी।

२—आज की भारतीय बौद्धिक परिस्थिति का इतिहास—वस्तुतः हमारा देश उन्नीसवीं शती में ही यूरोप की राज्य शक्ति और संस्कृति के पूरे सम्पर्क, प्रभाव और संघात में आया, उसके पहले यूरोप की विभिन्न राज्य शक्तियाँ (कम्पनियों के रूप में) भारत की विश्रंखलित राजनीतिक परिस्थिति में अपनी जड़ें जमाने की प्रतिद्वंद्विता में लगी हुई थीं। इस संघात के ठीक पहले अर्थात् अठारहवीं शताब्दी तक हामारा बौद्धिक समाज सांस्कृतिक चक्र प्रवर्तन के उस स्थिर और निष्क्रिय स्तर तक पहुँच चुका था जहाँ उसकी सारी प्रतिभा, मेधा और शक्ति अपनी उपलब्धियों की जुगाली में ही सार्थक मानी जाने लगी थी। अतः समस्त राष्ट्र तथा समाज की चेष्टा इस समय तक परम्परित, रूढ़िग्रस्त और असर्जनात्मक हो चुकी थी। पन्द्रहवीं-सोलहवीं शताब्दी तक दर्शन, धर्म, साधना के क्षेत्र में जो सांस्कृतिक चेष्टा परिपक्व और गतिशील हुई उसने साहित्य (उसके पहले कलाओं को भी) और समाज को नयी सर्जनशीलता से अनुप्राणित ज़रूर किया था। परन्तु इस सांस्कृतिक संचरण में चुनौतियों तथा समस्याओं को बहुत कुछ आत्मरक्षा की दृष्टि से स्वीकारा और सुलझाने का प्रयत्न किया गया। इस कारण अपनी सारी सर्जनशीलता और उपलब्धियों के बावजूद उससे एक ऐसी समन्वयात्मक मूल्य दृष्टि विकसित हुई जो आत्मरक्षा के लिए जितनी उपयोगी है, विकास और विस्तार के लिए उतनी ही बाधा स्वरूप भी।

स्वीकार जीने का अवसर देता है, पर अस्वीकार से जीने की क्षमता मिलती है। जाने का अर्थ यही है कि गतिशीलता बनी रहे, स्थिर रह कर जीने का मानी नहीं रह

जाता। गति कभी-कभी निरर्थक हो सकती है, पर सर्जनशीलता उसके बिना सम्भव नहीं। इसीलिए इस प्रक्रिया को निरन्तर जारी रखने के लिए अस्वीकार का महत्त्व है, चुनौतियों को स्वीकारते रहना आवश्यक है। साहसिक क्रान्तिकारिता के बिना संस्कृति की सर्जनशीलता चुक जाती है, और समन्वय की मूल्य दृष्टि किसी भी स्तर की क्रान्ति को पनपने नहीं देती। यही अन्तर पन्द्रहवीं शताब्दी में शुरू होने वाले यूरोप के पुनर्जागरण और इसी युग के भारतीय सांस्कृतिक संचरण में परिलक्षित होता है। यूरोप में इस भूमिका से शुरू होने वाला सांस्कृतिक संचरण बीच-बीच में अनेक चुनौतियों और क्रान्तियों से अन्तःसंचलित हुआ है, बिना इन्हें साहस के साथ झेले यूरोप के लिए आधुनिक संचरण को यहाँ तक आगे बढ़ा पाना सम्भव नहीं था। इसके विपरीत हमारे देश के सांस्कृतिक आन्दोलन ने सामाजिक जीवन और बौद्धिक चेष्टा को प्राणवत्ता तो दी, पर यह जीवनी शक्ति की गत्यात्मकता में परिलक्षित न होकर सहनशीलता के रूप में ही व्यक्त हुई है। अतः एक ओर इसमें अन्तःसंचरण की शक्ति नहीं विकसित हो सकी, दूसरी ओर यूरोप के संघात को निजी सन्दर्भों में आधुनिकता के रूप में ग्रहण करने की क्षमता भी नहीं रही।

भारतीय व्यापक जीवन की यह विशेषता रही है कि ग्रहण सर्वव्यापी रहा है, पर त्याग के प्रति निर्ममता कभी नहीं बरती गयी। सब कुछ मिलता और समिटता गया, बटोरा जाता रहा। विचार भिन्नता और मतों के अन्तर पाये गये हैं, इनके लिए शास्त्रार्थ और साम्प्रदायिक उखाड़-पछाड़ भी कम नहीं हुए, परन्तु वैसा साहसिक विद्रोह जो क्रांतिकारिता को जन्म देता है और जिससे सांस्कृतिक जीवन में नयी रचनाशीलता प्रारम्भ होती है, हमारे बौद्धिकों में उपज नहीं सका। जहाँ जिस स्तर पर यह क्रान्तिकारिता प्रकट भी हुई, वहाँ भी पण्डितों और शास्त्रियों के समर्थन के अभाव में अथवा विरोध से उसे सामाजिक जीवन में कोई विस्तृत आधार नहीं मिल सका।

भारतीय जीवन ने अपनी इस ग्रहण वृत्ति के कारण सम्भवतः अपने प्रत्येक सांस्कृतिक संचरण के समाप्त होने के बाद उसकी ह्रासोन्मुखी प्रवृत्तियों को समाहित कर लिया है, यही कारण है कि पिछले युग के गतिशील तत्त्व भी उसमें स्थिर होते गये हैं। वैदिक कर्मकाण्ड अपने अग्निहोत्रों, मंत्रोच्चारों तथा विधिविधानों के साथ एक बार चुनौती का विषय जरूर बना, पर वह भारतीय जीवन में नाना रूपों में प्रतिफलित होता आया है। कौन ऐसा धर्म है, ऐसा सम्प्रदाय है, पंथ है और कौन ऐसा युग है जिसने अपने कर्मकाण्ड की पद्धति न विकसित कर ली हो। औपनिषदिक आत्मवाद और बौद्ध अनात्मवाद ने जिस वैराग्य की प्रवृत्ति को जन्म दिया, वह भौतिक जीवन की निष्क्रयता में सदा बनी रही है। अपनी प्रबल तर्कशक्ति के बावजूद वेदांत ने जो प्रामाण्यवाद की परम्परा चलाई, उसने भारतीय चिन्तन को परमुखापेक्षी रहने की आदत डाल दी है। कर्मवाद की गत्यात्मक शक्ति निर्भरता के रूप में अकर्मण्य भाग्यवाद बन कर हमारे जीवन में गहरे समाहित हो गयी है। आज भी देश के व्यापक जीवन क्षेत्र में बड़े से बड़े व्यक्ति को किसी के सामने हाथ पसारे या चरण छूते हुए देखा जा सकता है। भक्ति युग का समर्पण हमको किसी के प्रति समर्पित होने और अपने दायित्व से सहज ही मुक्त होने की प्रेरणा भर दे पाता है।

उन्नीसवीं शती में पश्चिम विशेष कर अंग्रेज़ों के सम्पर्क, प्रभाव और संघात से हमारे देश में पुनर्जागरण का नया युग प्रारम्भ होता है। इस समय तक यूरोपीय संस्कृति आधुनिकता के नये सन्दर्भों से जुड़ती जा रही थी, विकास के उन्नततर सोपानों पर अग्रसर होती जा रही थी। उदार शिक्षा, मानववादी दृष्टि, प्रजातांत्रिक पद्धति, समानता आदि सिद्धान्तों के साथ वैज्ञानिक और औद्योगिक उन्नति में भी यूरोप आगे बढ़ रहा था। आधुनिक यूरोप की इस गत्यात्मक संस्कृति के सम्पर्क और संघात ने भारतीय उच्च वर्ग को नये संस्कार में दीक्षित होने का अवसर दिया। परन्तु कोई भी संस्कृति अपने प्रभाव को विस्तार देते समय इस बात पर बल देती पायी जाती है कि इस प्रकार वह अपनी शक्ति को अधिक संघटित कर सके और साथ ही अपनी केन्द्रीय स्थिति सुरक्षित रख सके।

पश्चिमी शिक्षा-दीक्षा प्राप्त बुद्धिजीवी वर्ग पश्चिम की संस्कृति से चमत्कृत थे, साथ ही इंग्लैण्ड के प्रभावशाली बौद्धिकों का प्रयत्न इस नये बुद्धिजीवी वर्ग के माध्यम से सारे देश को अपने बौद्धिक और सांस्कृतिक प्रभाव क्षेत्र में रखना रहा है। अंग्रेज़ों की स्वीकृत भाषा नीति इसका प्रबल प्रमाण है; उसके द्वारा पश्चिमी संस्कारों की सर्वाधिक गहरी दीक्षा दी जा सकी है। परन्तु यह भी स्पष्ट है कि पश्चिम के गहरे संघात ने भारतीय चेतना का गहरा मन्थन भी किया, जिससे उसमें निजी पुनर्जागरण की प्रक्रिया का प्रारम्भ भी हुआ। अतः इस दौरान में भारतीय बौद्धिकों के दो स्पष्ट वर्ग देखे जा सकते हैं। एक वर्ग पश्चिम की संस्कृति, प्रतिभा और मौलिकता से अभिभूत रहा है और किसी न किसी रूप में पुनर्जागरण की प्रक्रिया को पश्चिमीकरण के रूप में स्वीकार करता रहा है। दूसरा वर्ग पश्चिम को और उसकी संस्कृति को एक चुनौती के रूप में ग्रहण करता रहा है और राष्ट्रीय सन्दर्भों में अपने नये जीवन को संघठित करने में प्रयत्नशील रहा है। परन्तु यह दूसरा वर्ग भी पश्चिम से आक्रान्त होने के कारण देश के आधुनिकीकरण की सही दिशा का अनुसन्धान नहीं कर सका। कभी पश्चिम से प्रभावित और चमत्कृत होने के कारण इसने पश्चिम के अनुरूप अपनी प्राचीन संस्कृति की खोज और व्याख्या करने की चेष्टा की, और ऐसा भी हुआ है कि पहले वर्ग के अधिक पश्चिमाभिमुख होने की प्रतिक्रिया में और कभी-कभी अपनी सहज प्रवृत्ति के कारण भी दूसरे वर्ग के बौद्धिकों का झुकाव भारत की प्राचीन गरिमा की ओर रहा है।

इस दूसरी बौद्धिक परम्परा का भारतीय आधुनिकता के अनुरूप प्रतिफलन गाँधी के व्यक्तित्व में देखा जा सकता है। एक ओर उन्होंने देश के सारे इतिहास और परम्परा को वर्तमान में खोजने की चेष्टा की, इसके साथ ही यथार्थ को पूर्णतः ग्रहण किया, दूसरे पश्चिमी आधुनिक दृष्टि को मूल्य-बोध के गहरे स्तर पर निजी सन्दर्भों में समुपयोजित करने की चेष्टा की। गाँधी का समस्त मानवतावाद, विश्वबन्धुत्व, सत्याग्रह, अहिंसावाद और सर्वोदय न केवल देश की परम्पराओं से ग्रहीत और विकसित हुआ है, वरन् इनकी सारी परिकल्पना में देश के यथार्थ की गहरी पकड़ रही है। इस प्रकार गाँधी के व्यक्तित्व और चिन्तन में वे सारी सम्भावनाएँ निहित रही हैं जिनके आधार पर भारत की बौद्धिक परिस्थिति आधुनिकीकरण की प्रक्रिया को गतिशील करने में सक्षम हो सकती थी।

३—भारतीय बौद्धिक परिस्थिति का स्वरूप—स्वाधीनता के पूर्व भारतीय

रंगमंच पर गाँधी के व्यक्तित्व का व्यापक प्रभाव माना जाता है। परन्तु नेहरू एक ऐसे वर्ग के प्रतिनिधि थे जो अन्तर्राष्ट्रीयता और विश्व-नागरिकता के नाम पर यूरोप को महत्त्व देने का अभ्यस्त रहा है और आधुनिकीकरण के नाम पर पश्चिमीकरण को स्वीकारता रहा है। इस बौद्धिक वर्ग के साथ या पीछे उन्नीसवीं शती से अधिकाधिक विकसित होने वाला पश्चिमी शिक्षा और संस्कारों में पला वह बुद्धिजीवी वर्ग भी रहा है जो पश्चिम के सामने इस सीमा तक समर्पित रहा है कि अपने को भारतीय कहने में लज्जा का अनुभव करता रहा है। स्वाधीनता प्राप्ति के बाद ही गाँधी की हत्या के साथ देश की प्रगति की सही दिशा का एक संकेत भी दृष्टि से ओझल हो गया। फिर नेहरू युग प्रारम्भ होता है, और उसके साथ ही पश्चिमाभिमुख अन्तर्राष्ट्रवादियों की स्थिति मज़बूत होती गयी है। नेहरू के नेतृत्व में उनके व्यक्तित्व के समानान्तर इन बौद्धिकों का महत्त्व, शक्ति और प्रभाव बढ़ा है। यह स्वाभाविक स्थिति थी, क्योंकि नेहरू के व्यक्तित्व को इनसे सर्वाधिक बल भी मिला; यह वर्ग उनके व्यक्तित्व से प्रभावशील हुआ तो इसने उसे प्रभावशील बनाने में पूरा सहयोग भी दिया।

आज इसका परिणाम भी स्पष्ट दिखाई दे रहा है, भारत की समस्त राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय, आर्थिक और व्यापारिक, शैक्षणिक और औद्योगिक, वैज्ञानिक और प्राविधिक, सामाजिक और सांस्कृतिक नीतियों और योजनाओं पर इनका गहरा प्रभाव है। इस वर्ग में अपने देश को जानने समझने योग्य संसक्ति नहीं है; बिना गहरे लगाव के इनके लिए अपने समाज की यथार्थ समस्याओं को सही ढंग से ग्रहण कर पाना सम्भव नहीं है। यही कारण है कि इनके द्वारा परिचालित या समर्थित देशी-विदेशी नीतियाँ खोखली अन्तर्राष्ट्रीयता, फ़ैशन की विश्वनागरिकता और नक़ली मानववाद पर आधारित रही हैं। अमौलिक, असर्जनात्मक तथा निष्क्रिय बौद्धिक चेष्टा वाले इस वर्ग ने तटस्थता, निरपेक्षता और पंचशील जैसे सिद्धान्तों का हवाई, काल्पनिक और बाँझ रूप प्रतिपादत किया है। वैसे स्वतः ये सिद्धान्त गत्यात्मक न होकर स्थिर स्थिति से उद्भूत हैं, परन्तु इनका नीति के स्तर पर परिचालन हमारे नीतिज्ञों की सन्दर्भहीनता को प्रकट कर देता है।

पश्चिमी संस्कृति से अभिभूत और संस्कारों में दीक्षित यह वर्ग देश की प्रगति की सारी सम्भावना और परिकल्पना पश्चिम अर्थात् इंग्लैण्ड, इधर अमरीका तथा एक सीमा तक रूस के अनुकरण में मानता और करता है। उनकी मनोवृत्ति है कि पश्चिम के अनुसार हो जाने मात्र से हम आधुनिक हो सकते हैं, जिसका सीधा मतलब यह है कि हमारी सारी प्रगति अनुकरण से ही सम्भव है। स्वाधीन होने के बाद के इन वर्षों में पंचवर्षीय योजनाओं के माध्यम से हमने जो विकास किया है, उसकी मूल धारणा और प्रकृति यही रही है। और विकास का जो स्वरूप उभरा है, उससे स्पष्ट हो जाता है कि हम क्रमशः देश में एक ऐसा समाज बना रहे हैं जो देश की असंख्य जनता के जीवन से कटा हुआ और असम्पृक्त है। वह अपने सामाजिक जीवन का ढाँचा ऐसा खड़ा कर रहा है जिससे वह अपने को पश्चिमी उन्नत समाज का अंग मान सके। क्योंकि सारे देश को इस प्रकार रूपान्तरित नहीं किया जा सकता है, इस वर्ग में हर उपाय से अपने विशेषाधिकारों की स्थिति को सुरक्षित रखने की भावना दृढ़ होती गयी है।

अपनी स्थिति में सुरक्षा की भावना से प्रेरित और देश के व्यापक जन-समाज से कट कर यह वर्ग अपने को अकेलेपन की भावना से ग्रस्त पाता है, और यहाँ वह खोखली अन्तर्राष्ट्रीयता का जामा ओढ़ने की चेष्टा करता है। इस भावना के आधार पर वह बौद्धिकों की एक अन्तर्राष्ट्रीय बिरादरी की कल्पना करता है। वे यह मानने की चेष्टा करते हैं कि उन्हें इस समाज की सदस्यता प्राप्त है, और इस रूप में पश्चिम की आधुनिकता से उनका गहरा सम्बन्ध है। उन्हें विश्वास है, शायद भ्रम है कि वे अपनी सर्जनशीलता के सभी सन्दर्भ पश्चिम से प्राप्त कर सकते हैं। अविकसित और अवरुद्ध देश उनके लिए रचना की नयी चुनौतियाँ प्रस्तुत करने के बजाय उन्हें रोकता और बाँधता ही है। अतः यह वर्ग न देश की मौलिक सर्जनशीलता से आगे बढ़ा पाने में सक्षम है, और न अपने को वास्तविक रचनाशीलता से सम्पृक्त कर पाने में सफल हो पाता है।

अधिकतर बौद्धिक और सारा बुद्धिजीवी समाज एक ओर आधुनिकता को पश्चिमीकरण के रूप में ग्रहण करता है, तो दूसरी ओर भारतीय परम्परा के जड़ संस्कार इनमें गहरे स्तर पर रक्षित हैं। जैसा कि पश्चिमी विचारकों ने भी इस ओर संकेत किया है, हमारे बौद्धिकों का अकेलेपन का भाव संस्कारों और परम्परा से अलग कट जाने के कारण नहीं वरन् जनता के जीवन से अपने को सम्बद्ध न कर पाने के कारण है। इस वर्ग में गहरे स्तर पर उच्चता और गौरव के जातीय संस्कार सुरक्षित हैं। स्वतः पश्चिम को चुनौती के रूप में न लेकर उससे समझौता कर लेने की भावना और समर्पण करने की प्रवृत्ति भारतीय प्रामाण्यवाद और समन्वयवाद का प्रभाव माने जा सकते हैं। चिन्तन के क्षेत्र में साहसिकता के साथ अपने युग के यथार्थ के आमने-सामने होकर आगे बढ़ जाने की चेष्टा के स्थान पर पश्चिम के समर्थन की पग-पग पर आकांक्षा इसी मनोवृत्ति का सूचक है। जिस प्रकार प्राचीन भारतीय संस्कृति से समर्थन और प्रमाण पाने की चेष्टा उन्नीसवीं शती से होती आ रही है, उसी प्रकार पश्चिम के समर्थन से अपनी प्रामाणिकता सिद्ध करने की प्रवृत्ति है। बौद्धिक स्तर पर दोनों में कोई अन्तर नहीं है। हमारा बौद्धिक और बुद्धिजीवी समाज कथनी और करनी, चिन्तन और आचरण, घर और बाहर के स्तर पर भारी विरोधाभासों में जीने का अभ्यस्त है। वह पश्चिम के विचारों को अपने परम्परित संस्कारों के साथ सहज ही खपा लेता है, उसी प्रकार जैसे वह पश्चिमी रहन-सहन के साथ अनेकानेक अपने रीति-रिवाजों और संस्कारों को परम्परा के स्तर पर निभा लेता है!

हम मध्य युग से अतिव्याप्तियों में सोचते, रहते और व्यवहार करते आये हैं। इसने हमारे चिन्तन की प्रखरता और तेजस्विता को कुण्ठित कर दिया है। चिन्तन सूक्ष्म अन्तर, विभेदों और विश्लेषण पर बल देता है। वह सारी परिस्थिति को नये और निजी सन्दर्भों में देखने की चेष्टा करता है। समस्याओं और चुनौतियों को प्रति क्षण स्वीकारता हुआ नये समाधान और सिद्धान्त खोजने में प्रवृत्त होता है। प्रमाणों के लिए अन्यत्र खोज चिन्तन के इस गहरे दायित्व से बचने की चेष्टा है। इसी प्रकार दूसरों के समर्थन पर निर्भर रहना भी साहसिकता की कमी ही है। प्रखर और साहसिक चिन्तन के अभाव में विरोधी विचारों को बिना परीक्षण के एक साथ ही स्वीकारने की आदत पड़ती है, और यह विचारों का समन्वयवाद

आचरण का समझौतावाद ही है। बिना किसी गहरे आत्ममन्थन और संघर्ष के हम पश्चिम-पूर्व, साम्यवाद-प्रजातंत्र, परम्परा-आधुनिकता और हिंसा-अहिंसा का समन्वय कर लेते हैं, वस्तुतः समझौता मात्र करना हम पर्याप्त मान लेते हैं। इस प्रकार अपनी पलायन तथा अवसरवादी मनोवृत्ति से यह वर्ग चिन्तन और आचरण में विरोधों की अतिव्याप्ति में चक्कर लगाता रहता है।

कर्मवाद की भाग्यवादी परिणति और भक्ति की अन्ध श्रद्धा तथा समर्पण में पर्यवसान हमारी आज की बौद्धिक परिस्थिति को अनेक रूपों में प्रभावित कर रहे हैं। कहने मात्र से काम चला लिया जाता है, करने की आवश्यकता नहीं रह जाती, दायित्व से मुक्ति दूसरों पर उसे टाल कर मिल जाती है, चुनौतियाँ स्वीकारने की अपेक्षा विश्वास से काम चल जाता है, प्रतिभा, क्षमता और कार्यकुशलता की अपेक्षा भाग्य-रेखाओं का सहारा अधिक लिया जाता है और अवसर के अनुसार समझौता और समर्पण से सफलता के मार्ग पर बढ़ जाना नीति-कुशलता मानी जाती है। इस प्रकार यह वर्ग अपने युग के यथार्थ की समसामयिक चुनौतियों को झुठला कर अपने को बचा लेता है, और अपने आत्मतोष के लिए सारे संसार के बौद्धिकों की समक्षता में व्यापक मानवीय समस्याओं से जूझने का अभिनय करता है। एक ओर यह वर्ग अन्तर्राष्ट्रीयता और विश्वनागरिकता, समाजवाद और मानवतावाद जैसे नारों से दूसरों को भ्रम में डालता है और दूसरी ओर संकुचित जातिवाद और भाईचारावाद से पग-पग पर समझौता कर लेता है। वस्तुतः वह अपने चिन्तन तथा आचरण के विरोध में जीने का आदी हो चुका है, उसके लिए इन सबकी सह-अस्तित्व की स्थिति है, जिन्हें वह एक साथ निभा सकता है। उनके लिए सब मिला कर अवसर प्रमुख है, अन्य सभी सिद्धान्त उसी के अनुसार निरूपित व्याख्यायित होते रहे हैं, चाहे वह सह-अस्तित्व हो या पंचशील, निरपेक्ष तटस्थता हो या विश्वशांति।

४—देश की सर्जनात्मक प्रतिभा का गतिरोध—आज की परिस्थिति में हमारे बौद्धिक स्वकेन्द्रित, आत्मतुष्ट और परमुखापेक्षी हैं, उनकी सारी क्षमता अपने अस्तित्व की रक्षा की ओर प्रवृत्त है। स्वाधीनता आन्दोलन के दौरान में व्यापक राष्ट्रीय भावना के विरुद्ध जाना सम्भव नहीं था, यद्यपि इनमें से बहुत बड़ा समुदाय अपने संस्कारों में पश्चिमाभिमुख था और उसके सामने स्वाधीनता की सारी कल्पना इसी रूप में आती थी कि वह पश्चिमी समाज के सामने बराबरी का दावा पेश कर सकेगा और उसी के समान रहने-सहने की छूट पा जायगा, देश के सारे जनजीवन और जनमानस की मुक्ति और उनके संचरण की प्रत्यक्ष कल्पना उसके मन में नहीं थी। जिन ऐतिहासिक प्रतिक्रियाओं से उसका व्यक्तित्व निर्मित हुआ है, उन्होंने उसकी अन्तः प्रकृति को ऐसा संघटित किया है कि वह मात्र व्यक्ति बन सका है, स्वतःचालित, स्वनिर्मित और सर्जनात्मक व्यक्तित्व नहीं। वह यथार्थ अर्थात् देश-काल-परिस्थिति से कटा हुआ व्यक्ति ऐसे आदर्शों और मूल्यों की हवाई कल्पना में जीता है और उससे अपने सर्जन की प्रेरणा ग्रहण करने की चेष्टा करता है, जो नितान्त भ्रामक है। इस छलावे में वह अपनी व्यक्तिगत उन्नति, अपने विकास और अपनी सुख-सुविधाओं तथा प्राप्त अवसरों को देश की उन्नति तथा सर्जन-शीलता के रूप में स्वीकार कर लेता है।

इसका एक परिणाम यह है कि उसके मन में देश की समस्त उन्नति, विकास और आधुनिकीकरण की कल्पना ऊपरी सतह के एक वर्ग अथवा समाज विशेष में सीमित हो जाती है। आदर्शों की चर्चा करके सन्तोष ग्रहण कर लिया जाता है, या यह भी कहा जा सकता है कि भ्रमपूर्ण वातावरण उत्पन्न किया जाता है। क्योंकि नेहरू और इस वर्ग में चिन्तन, संस्कार और भावना के स्तर पर गहरी समता देखी जा सकती है, यही कारण है कि, जैसा कहा गया है, दोनों को एक दूसरे का समर्थन प्राप्त होता रहा है, और इन वर्षों दोनों एक दूसरे को शक्ति के आधार रहे हैं। नेहरू की देशी-विदेशी, आर्थिक-औद्योगिक, राजनयिक-सांस्कृतिक, शैक्षणिक और भाषा सम्बन्धी समस्त नीतियाँ और योजनाएँ इस बौद्धिक परिस्थिति की न केवल उपज रही हैं, वरन् उनको चलाने में भी इनका प्रमुख हाथ रहा है। एक प्रकार से ये नीतियाँ और योजनाएँ उनकी अनुर्वर और असर्जनात्मक बौद्धिकता की परिचायक हैं।

यहाँ यह समझ लेना ज़रूरी है कि मौलिक चिन्तन और सर्जनात्मक प्रक्रिया किसी अयथार्थ भूमिका पर शुरू नहीं हो सकते। अन्तर्राष्ट्रीयता के ऐसे सभी सन्दर्भों से जो देश की समस्याओं से सीधे विकसित नहीं हैं या अपने समाज की अविकसित और विजड़ित स्थिति से विमुख होकर अन्तर्राष्ट्रीय बिरादरी में स्थान पाने की आकांक्षा से बौद्धिक परिस्थिति में किसी प्रकार की गतिशीलता की आशा नहीं की जा सकती। उसके लिए यथार्थ का सही साक्षात्कार आवश्यक है और अपने व्यापक समाज की सम्पृक्ति में ही यह सम्भव हो सकेगा। देश-काल में समाहित सामाजिक यथार्थ से बिना टकराहट पैदा किये रस-रोमान्स और रहस्य के मानववाद की सृष्टि की जा सकती है, खोखली अन्तर्राष्ट्रीयता तथा विश्वनागरिकता को जन्म दिया जा सकता है, पर किसी रचनात्मक यथार्थ दृष्टि का अनुसन्धान नहीं किया जा सकता। इस दृष्टि के अभाव में हमारी प्रगति की सारी कल्पना यूरोप के प्रतिरूप बन जाने में सार्थक जान पड़ती है, और ऐसी स्थिति में यदि हमारे समाज का एक स्तर पश्चिम की सुख-सुविधाओं को प्राप्त करता हुआ दिखाई देता है तो हमारा बुद्धिजीवी वर्ग उन्नति के प्रति सन्तोष प्रकट करता है।

ऐसी स्थिति में भारतीय बौद्धिकों की आधुनिकीकरण की दृष्टि दो सीमाओं में भटकती रहती है। एक ओर पश्चिम—प्रायः इंगलैण्ड, इधर अमरीका और वामपंथी फ़ैशन के रूप में रूस—का अनुकरण है। इसके अनुसार उधार लिए हुए कल कारख़ानों के समान न केवल नीतियों और योजनाओं का आयात हो रहा है, वरन् मूल्य दृष्टि भी आरोपित करने की चेष्टा की जा रही है। दूसरी ओर जब कहीं से कोई आघात लगता है, या विदेश में अथवा विदेशी के सामने अपनी प्रतिष्ठा का स्वाँग भरना होता है, और जब कभी अपनी जनता को विभ्रम में डालने की आवश्यकता जान पड़ती है, भारत के प्राचीन गौरव का गान किया जाता है, महान् सांस्कृतिक परम्परा की दुहाई दी जाती है, समन्वयवाद आदि की चर्चा कर ली जाती है। ऐसी स्थिति में पुरातनवादियों से इनका अच्छा समझौता हो जाता है, पुरातनवादी प्रतिष्ठा पाकर खुश हो जाते हैं और यह आधुनिकतावादी इनका इस्तेमाल कर लेता है। प्रतिगामी पुनर्स्थापनवादियों का हमारी बौद्धिक परिस्थिति पर प्रभाव निषेधात्मक ही माना जा सकता है, क्योंकि उनकी सारी बौद्धिकता मानसिक जड़ता को जन्म देती है, इसी कारण

राजनीति के क्षेत्र में अपना प्रभाव बढ़ा लेने के बावजूद बौद्धिकों पर उनका प्रभाव कम ही पड़ सका है।

देश के व्यापक और समग्र जीवन से बिना सम्पर्क स्थापित किये, उसके यथार्थ से गहरी संसक्ति के अभाव में हमारा बौद्धिक देश के जीवन के विभिन्न पक्षों की मौलिक और वास्तविक चुनौतियों से भी अपरिचित है। समस्याओं की चुनौतियों से जो भागता है, वह उन्हें टाल सकता है उनका सही हल नहीं ढूँढ़ सकता। टकराहट से स्थिति का ठीक एहसास होता है, उससे समस्या की ठीक पकड़ आती है और आदमी कोई रास्ता भी निकाल पाता है। टालने वाला बचाव तो कर सकता है, पर रास्ता कभी नहीं निकाल सकता। दूसरों के दाँव-पेंच तभी काम आ सकते हैं, जब उनका इस्तेमाल स्थिति की मुठभेड़ के समय किया जाय। परिस्थिति को और उससे उत्पन्न समस्याओं को जब तक उनके सही सन्दर्भ से जोड़ कर नहीं देखा जायगा, और जब तक सिद्धान्तों की खोज इसी केन्द्रीय दृष्टि से संचालित नही होगी, देश की राजनीति, अर्थनीति, समाज, राजनय, संस्कृति अथवा भाषा आदि की किसी समस्या पर कोई मौलिक तथा रचनात्मक चिन्तन सम्भव नहीं है।

अगर हम चाहें तो अठारह उन्नीस वर्षों से चलने वाली नीतियों और योजनाओं में इस स्थिति का सही नक़्शा देख सकते हैं। सब एक दूसरे की शिकायत करते पाये जाते हैं। सरकार जनता की शिकायत करती है कि उसे जनता के उत्साहपूर्ण कर्म का सहयोग प्राप्त नहीं है, वह बौद्धिकों की शिकायत भी करती है कि उनसे उसे सही दृष्टि नहीं मिलती; जनता की शिकायत है कि सरकार ने उसे निराशा के उस स्तर पर पहुँचा दिया है जहाँ उसकी सारी महत्त्वाकांक्षाएँ मर चुकी हैं, बौद्धिकों की शिकायत है कि सरकार की नीतियों ने लगभग मध्यम वर्ग को समाप्त कर दिया है जो देश की समस्त बौद्धिक चेष्टा की आधार-भूमि होता है। नेता योजकों को दोष देते हैं कि उनकी योजनाएँ सैद्धान्तिक अधिक व्यावहारिक कम रही हैं, योजक अधिरियों को दोषी मानते हैं, क्योंकि उन्होंने योजनाओं को ठीक कार्यान्वित नहीं किया। यह स्थिति स्वतः हमारे बौद्धिक गतिरोध की सूचक है। यह सही है कि हमारी अन्तर्राष्ट्रीय और राष्ट्रीय नीतियाँ और योजनाएँ पग पग-पग विफल हुई हैं, हम आगे बढ़ने में अशक्त होते गये हैं, कुंठित और अवरुद्ध हुए हैं। यह आये दिन विरोधियों के द्वारा ही नहीं उनके चलाने वालों के द्वारा भी माना और स्वीकार किया जाता है। जब कभी इस विकास को वास्तविक मानने की कोशिश की जाती है, दृष्टि देश के व्यापक जीवन से हटा कर समाज के स्तर विशेष पर सीमित कर ली जाती है। और जो लोग ऐसा मानने की कोशिश करते हैं, वे देश के जन-समाज से अलग एक विशिष्ट समाज की कल्पना करते हैं, बाहर माने भले ही नहीं।

५—आधुनिकता का सही संदर्भ—यह मानना भ्रामक है कि भारतीय संस्कृति के इस पुनर्संचरण के लिए अर्थात् आज के आधुनिकीकरण के लिए हमारे देश पर अंग्रेजी राज्य एक अनिवार्य स्थिति थी, पर पश्चिम से एशिया तथा अफ़्रीका का संपर्क और उसकी आधुनिक संस्कृति का उन पर संघात इतिहास की गति की दिशा माने जा सकते हैं। अतः हम इस संपर्क और संघात को अपने लिए आधुनिक होने की प्रेरणा के रूप में स्वीकार कर सकते हैं, जबकि प्रेरणा को ग्रहण करने और उसे अपने अनुकूल दिशा देने का दायित्व हमारा है। सभी

संस्कृतियाँ आत्मकेन्द्रित होती हैं, अपने विस्तार में वे सदा केन्द्र को दृढ़ और पुष्ट करती हैं। पश्चिम की आधुनिक दृष्टि अपने साँस्कृतिक सन्दर्भ से सदा सम्पृक्त और सम्बद्ध रही है। वह पश्चिम को केन्द्र में मान कर उसकी आधुनिक चेतना को विकसित, समृद्ध और गतिशील करने की चेष्टा में संलग्न रही है। कोई भी शक्ति या तो विकास करती रहती है, अथवा स्थिर होते ही उसका ह्रास अनिवार्य है। इस दृष्टि से उसकी शक्ति को संगठित करने और विकास लिए आधार पाने के लिए ही नहीं, वरन् आगे चल कर अपनी संस्कृति को गतिशील रखने के लिए भी यूरोप के लिए एशिया और अफ्रीका को आधुनिकता की ओर प्रवृत्त करना अनिवार्य था। इसमें कोई शक नहीं कि पश्चिम-यूरोप और अब अमरीका भी—एशिया और अफ्रीका को आगे बढ़ाना चाहता है, प्रगति के मार्ग पर चलने के लिए सहारा भी देना चाहता है, और इस सब के लिए इन्हें आधुनिकीकरण की प्रकिया में भी प्रवृत्त देखना चाहता है। पर यह भी सही है कि अपनी सारी प्रतिभा, योग्यता और क्षमता के साथ पश्चिम एक ओर यदि अपनी सर्जनशीलता को बनाये रखना चाहता हैं तो दूसरी ओर अपनी केन्द्रीय स्थिति को सुरक्षित रखने के लिए प्रयत्नशील है, यह उसके लिए एक ही प्रक्रिया के दो पक्ष भी हो सकते हैं।

यूरोप के लिए आधुनिकता एक विकासशील सर्जनात्मक प्रक्रिया रही है। इसे महायुद्धों के विवश संहार से उत्पन्न अस्तित्व की अवशता के रूप में, मूल्यों की संक्रान्ति के रूप में अथवा यांत्रिक जड़ता के रूप में मानना दृष्टिदोष है। यह तो यूरोप की सर्जनात्मक दृष्टि है जो उसके समस्त जीवन को गतिशील रख सकी है, और पश्चिमी संस्कृति को संक्रान्ति तथा गतिरोध की तमाम शक्तियों और परिस्थितियों से उबारने में संलग्न रचना प्रक्रिया है। जीवन की बाह्य परिस्थितियों का युग की रचना दृष्टि से गहरा सम्बन्ध होता है, अतः पश्चिमी जीवन में कुंठा, अनास्था, विघटन, मूल्यहीनता आदि जो परिलक्षित होते रहे हैं, उनको आधुनिक दृष्टि के रूप में न मान कर इस दृष्टि का यथार्थ बोध ज़रूर माना जाना चाहिये। पर यह दृष्टि मूलतः रचना की है और इसलिए मूल्यबद्ध न होकर मूल्यों की स्रोत ज़रूर है।

जैसा कहा गया है आधुनिकता को यूरोप के संदर्भ में भी सतत सर्जन कर्म में प्रवृत्त प्रक्रिया माना जा सकता है, पिछली मूल्य दृष्टियों से उसकी प्रमुख विशेषता है कि यह मूल्यों पर रुकती नहीं, उनसे बँधती भी नहीं, निरन्तर मूल्य बोध की सर्जनशीलता है। इसे नैतिकताविहीन, मूल्यविहीन और अर्थविहीन कहने का सन्दर्भ भी यही है। उन्नीसवीं शती के यूरोप की मूल्योपलब्धियों ने आधुनिक यूरोप की भूमिका तैयार की है, पर उनके आधार पर आज की मूल्य दृष्टि का सही आकलन नहीं किया जा सकता। उन्नीसवीं शती में इतिहास की प्रक्रिया को समझने की चेष्टा की गयी, ईश्वर के स्थान पर मानव को मूल्यों के स्रोत के रूप में माना गया, सर्वत्र वैज्ञानिक पद्धति का प्रयोग स्वीकार किया गया, साथ ही यथार्थोन्मुखता को प्रवृत्ति भी परिलक्षित हुई। इन मूल्यों के आधार पर पश्चिम में खास प्रकार की जीवन पद्धतियाँ विकसित हुईं, राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक ढाँचे तैयार हुए, धर्म और नैतिकता के प्रति खास प्रकार की मनोवृत्ति बनी। परन्तु इन सबको आधुनिकता मानना और उनका अनुकरण करना भ्रामक है। स्वतः पश्चिम में ये मूल्य विकसित होते रहे हैं, उन्नीसवीं शती की इतिहास के प्रयोग की दृष्टि आज समसामयिकता के साथ सम्बद्ध हो गयी है और

आज हम वर्तमान के परिप्रेक्ष्य में ही अतीत और भविष्य का ऐतिहासिक बोध ग्रहण करते हैं। मानववाद कल्पना लोक और भावावेश के दौर से गुज़र कर मानवतावादी तटस्थता में बदल चुका है, व्यक्तिवादी भावुकता यथार्थ की वैयक्तिक असम्पृक्त दृष्टि में पर्यवसित हो चुकी है। इसी प्रकार आज की वैज्ञानिकता पिछले विज्ञानवाद की यांत्रिकता के स्थान पर सर्जनात्मक है।

यहाँ यह स्पष्ट होना चाहिए कि हमारे लिए आधुनिकता का मतलब यह नहीं है कि हम कुछ वस्तुएँ चाहते हैं, कुछ पद्धतियाँ चाहते हैं या किन्हीं मूल्यों को उधार लेने के आकांक्षी हैं। हमारे लिए आधुनिक होने का मतलब है कि हम गतिशील, मौलिक और सर्जनशील हों। इसलिए हमको अपनी निजी दृष्टि खोजनी होगी। यह आवश्यक है कि इसके लिए हमको पश्चिम की आधुनिकता का सही सर्जनात्मक और मूल्यबोधपरक रूप पहिचानना होगा। इसके साथ अपनी यथार्थ स्थिति का सही एहसास भी ज़रूरी है। कोई प्रक्रिया स्थानान्तरित नहीं की जा सकती, उसे तो नये सिरे से शुरू ही किया जा सकता है। यह अवश्य है कि किसी प्रक्रिया के सही संदर्भों और उसकी स्थिति के सही विश्लेषण से प्रक्रिया की आन्तरिक प्रकृति का ज्ञान हो सके, पर उसका शुरू किया जाना इसी बात पर निर्भर करता है कि उसको स्थिति और संदर्भों का सही मूल्यांकन क्या है?

अपनी स्थिति का सही विश्लेषण तभी हो सकता है, जब परम्परा और इतिहास का विवेचन किया जा सके। जिस प्रकार पश्चिम के इस्तेमाल के लिए यह ज़रूरी है कि हम उसके बारे में पूरी तरह से और गहरे ढंग से जानें, उसी तरह अपनी स्थिति को पहचानने के लिए परम्पराओं के प्रवाह और प्रभाव को ठीक-ठीक आँका जाय। पिछली शती से यूरोप के साथ हमारा जो सम्पर्क और सम्बन्ध रहा है, वह हमारे लिए इतिहास की प्रक्रिया का अंग ही है। उसकी सही पहिचान और स्वरूप का विश्लेषण अपने समसामयिक यथार्थ को पूरी तरह ग्रहण करने के लिये ज़रूरी है। आज की वैज्ञानिक और प्राविधिक उन्नति के साथ देशगत भौगोलिक सीमाएँ सिमटतीं जा रही हैं, इसलिए समसामयिकता का बोध भी गहराता जा रहा है। इन सबके माध्यम से अपने निजी सन्दर्भ में यथार्थ और वर्तमान के अनुभव के साथ हमारी आधुनिकता अर्थात् नयी सर्जनशीलता की खोज सम्भव हो सकेगी।

६—अभिनवीकरण की सर्जन प्रक्रिया—देश के व्यापक जीवन को आज की कुंठा, अवशता, उत्साहहीनता, रूढ़िबद्धता, अवरुद्धता से मुक्त करने का एकमात्र उपाय है आधुनिक होने की चेष्टा। सभी स्तरों और पक्षों से अभिनवीकरण तभी शुरू हो सकता है, जब देश को आधुनिक दृष्टि मिलेगी। इसका पहला अर्थ यही है कि हमको आज मौलिक रचना दृष्टि का अनुसंधान सबसे पहले करना है। भिन्न-भिन्न युगों की रचना दृष्टि समान नहीं हो सकतीं। हर बार नये सिरे से उसे खोजना पाना होगा, पिछले युगों में मनुष्य धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक क्षेत्र में भी भावोल्लास, भावावेश, भावतन्मयता से आगे बढ़ा है। इन युगों में उसके चिन्तन-मनन की दार्शनिक, शास्त्रीय और बौद्धिक चेष्टाओं का अन्ततः उपयोग किसी भावोपलब्धि में ही देखा गया। मूल्य बोध की सारी सम्भावना इसी स्तर पर हो सकी। पर आज मनुष्य भावों को शासित और अनुवर्ती करने के लिए उनके प्रति तटस्थ दृष्टि विकसित कर रहा है। हम अनुभव के ऐसे क्षेत्र में प्रवेश करने जा रहे हैं, जहाँ बौद्धिक

चेष्टा से ही यथार्थ परिस्थिति का सही बोध ग्रहण किया जायगा। इस प्रकार यथार्थ को हम एक साथ कई पक्षों और आयामों से जोड़ कर देखने में सक्षम होंगे, और अनुभव को विस्तार के साथ अधिक जटिल रूप में ग्रहण कर सकेंगे। साथ ही तभी हम आधुनिक सर्जनशीलता में भी प्रवृत्त हो सकेंगे।

सर्जन पक्ष पर बल देने के साथ निजी व्यक्तित्व की खोज का अर्थ भी होगा सर्जनशील व्यक्तित्व की खोज। यह व्यक्तित्व का केन्द्रबिन्दु तभी पाया जा सकता है, जब वह अपने चतुर्दिक की बद्धताओं, जड़ताओं, संस्कारों से मुक्त होकर गतिवान् हो। अतः निजता की खोज व्यक्तित्व को व्यापक सन्दर्भों से गहरे रचनात्मक स्तर पर जोड़ेगी। उसके इस संकल्प के साथ देश, समाज, राष्ट्र की चेतना और सर्जनशीलता की खोज अपने आप सम्बद्ध हो जाती है। इसी प्रकार अपनी नियति के प्रति कृतसंकल्प व्यक्तित्व सारे देश और समाज के प्रति एक स्तर पर प्रतिश्रुत और प्रतिबद्ध हो जाता है, पर आधुनिकता की प्रतिबद्धता किसी मूल्य दृष्टि की प्रतिबद्धता न होकर निरन्तर सर्जन में प्रवृत्त रहने और मूल्यों की खोज में संलग्न होने की है। इस स्थिति में व्यक्ति और समाज का नया रिश्ता विकसित हो रहा है, वह समाज से आबद्ध न होकर सम्पृक्त और संसक्त है, अतः अपनी तटस्थता में वह क्रियाशील है, इसी प्रकार समाज व्यक्तित्वों से आक्रान्त और अनुशासित न होकर उन्हें सर्जनशील व्यक्तित्वों की खोज के सभी सन्दर्भ प्रदान करेगा।

ऐसा नहीं है कि यह आधुनिकता व्यक्ति, समाज या राष्ट्र से बँधती है, यद्यपि जैसा कहा गया है रचना दृष्टि होने के कारण वह व्यक्तित्व से सम्पृक्त है। आगे चल कर देश-काल परिस्थिति से निरूपित तथा नियोजित होकर आधुनिकता की सर्जन दृष्टि मानवीय संचरण की नयी सम्भावनाओं को उन्मुक्त करती है। एक ओर यह राष्ट्रीय जीवन को मुक्त कर नयी सर्जनशीलता से प्रेरित करेगी और दूसरी ओर इसी बिन्दु से हम किसी व्यापक संकल्प को प्रतिफलित करने में अपना योग और उसके भविष्य को दिशा भी दे सकेंगे। आधुनिकता के सन्दर्भ में यह ऐसा कहना विरोधाभासी लग सकता है, क्योंकि वह मूल्यों के स्थिरीकरण के प्रति अत्यन्त सजग दृष्टि है तथा सर्जन की मौलिकता के साथ मूल्यों की निरन्तर रचना प्रक्रिया से ही सम्बद्ध है।

प्रश्न रह जाता है व्यावहारिक स्तर पर क्या करणीय है? या यों कह सकते हैं कि हमारी आधुनिकता की खोज की दिशा क्या होगी और वह किन पक्षों में गतिशील होगी। आज के जीवन और यथार्थ से हमको दार्शनिक दृष्टि विकसित करनी है, जिससे नयी जीवन पद्धतियों, नयी सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक व्यवस्थाओं ओर संस्थाओं को आधार मिल सके। पश्चिम से इन सबको उनकी दृष्टि के साथ नहीं ले सकते, लेने पर इनका विकास रचनात्मक और गत्यात्मक नहीं होगा, यह स्पष्ट है। आज पुरानी जीवन दृष्टि सन्दर्भ बदल जाने के कारण काम नहीं आ सकती, और पश्चिम से उधार लेकर क़लम लगाने से भी काम नहीं चलेगा, उसे निजी सन्दर्भ से विकसित करना होगा।

हमारी पुरानी सामाजिक पद्धतियाँ मिटी नहीं हैं, पर उनकी गत्यात्मकता न जाने कब की समाप्त हो चुकी है। हम उनसे चिपटे हुए हैं और वे सर्जनात्मक संचरण की बाधाएँ हैं। ऐसा

ज़रूर है कि धार्मिक और सामाजिक मान्यताएँ और पद्धतियाँ हमारे अन्दर गहरे संस्कार रूप में वर्तमान हैं। इनमें हमारी परम्पराओं का रूप विजड़ित हो चुका है। कभी जो गत्यात्मक था आज गति की बाधा है, अतः इनसे मुक्ति और नयी मान्यताओं और व्यवस्थाओं की खोज अनवरत करनी है। फिर ऐसा भी होगा कि सर्जन प्रक्रिया के शुरू होने के साथ पुरानी परम्पराओं में निहित जीवनी शक्ति का उपयोग भी हो सकता है। पर वह हमारी चिन्ता का विषय नहीं है, यह स्वयंसिद्ध स्थिति है।

यूरोप की दो प्रमुख राजनीतिक व्यवस्थाएँ भिन्न मूल्य दृष्टियों पर आधारित हमारे सामने ज़रूर हैं, और यूरोप में स्वतः इनसे आगे बढ़ने की प्रवृत्ति इधर रही है, भले ही सफलता न मिल सकी हो। पर अपने अपने विकास क्रम में दोनों ने एक दूसरे से कुछ ग्रहण किया है, यह स्पष्ट है। ऐसी स्थिति में हमारे लिए अपनी प्रकृति, आवश्यकता और परिस्थिति के अनुसार राजनीति के क्षेत्र में भी एक व्यवस्था की खोज ज़रूरी है, यूरोप के परीक्षण हमारी सहायता कर सकते हैं, पर हमको सीधे मार्ग पर नहीं लगा सकते।

यूरोप के व्यापक आर्थिक सिद्धान्तों और व्यवस्था के ऊपरी ढाँचों से हमारा काम नहीं चल सकता। जितना हमारे शास्त्री और योजक इनमें देश की योजनाओं को फ़िट करने की चेष्टा करेंगे, विफलता ही हाथ आने वाली है। आर्थिक जीवन पूरी जीवन पद्धति से अलग नहीं होता। इसलिए हमको अपने निजी सन्दर्भ में, अपने संस्कार और परम्परा को दृष्टि में रखते हुए आर्थिक सिद्धान्तों की खोज करनी होगी। ऐसा नहीं कि यह खोज समझौतावादी दृष्टि से प्रेरित होगी, वरन् विद्रोह के आधार पर विकसित हो सकती है। ऐसे आर्थिक सिद्धान्तों के आधार पर ही देश की योजनाएँ बनाई जानी चाहिये और सफलता की आशा करनी चाहिये।

प्रायः यह मान लिया जाता है कि विज्ञान और प्रविधि सार्वदेशिक हैं, इस अर्थ में समस्त ज्ञान ही सार्वभौम होता है। पर जिस प्रकार सार्वभौम और सार्वकालिक होकर भी ज्ञान अपने निजी सन्दर्भों से सम्पर्कित होकर ही सर्जनात्मक होता है, और एक सीमा के बाद उसकी सम्भावनाएँ समाप्त हो जाती हैं, उसी प्रकार विज्ञान की सर्जनात्मक दृष्टि को अपने सन्दर्भों से ग्रहण किया जा सकता है। ऐसा न होने पर तो अत्यधिक उन्नत राष्ट्रों की तुलना में कोई देश आगे बढ़ने की बात तो दूर कभी समकक्ष होने की आशा भी नहीं कर सकता। रूस और जापान ने यह करके दिखा दिया है, और हमारे लिए भी वही मार्ग है। प्रविधि का नियोजन देश की आवश्यकता और व्यापक हित से प्रेरित होने पर ही सार्थक माना जायगा। अतः इन दोनों को सर्जनात्मक स्तर पर अपनी जीवन दृष्टि से सम्बद्ध करके समुपयोजित करना होगा।

आधुनिकता और भारतीय बौद्धिक वर्ग

(ऐतिहासिक पर्यवेक्षण)

हरिहरनाथ त्रिपाठी

१७७२ में राजा राममोहन राय के जन्म के एक वर्ष बाद में कम्पनी शासन के लिए रेगुलेटिंग ऐक्ट आती है ! इस नये ऐक्ट से भारत में पश्चिमी व्यवस्था का न्यायालय जिसमें विधि, शासन, विधि की समानता और नई शिक्षा नई शिक्षा-व्यवस्था का सूत्रपात होता है। यहीं से पश्चिम और पूर्व के समाजों का संघर्ष प्रारम्भ होता है, जिसकी सबसे पहली-पहली घटना नन्दकुमार की फाँसी थी और उसके बाद ब्रिटिश न्याय व्यवस्था के विपरीत कलकत्ता में दंगा इसलिये हुआ कि ब्राह्मण को सामान्य नागरिक के समान न्यायालय में बुलाया गया। स्पष्ट है कि यह सामाजिक संघर्ष परम्परावादी सामाजिक सामन्ती भारतीय समाज और सुधार, पुनर्जाग्रति एवं औद्योगिक व्यवस्था सम्पन्न ब्रिटिश समाज के बीच हुआ। हमारे समाज में आचार, परम्परा, जाति, कुटुम्ब एवं ग्राम व्यवस्था में गृहस्थ व्यक्ति विवेक के स्थान पर शास्त्रों से शासित था उसे पश्चिम से आधुनिक उपलब्धि के रूप में विधि की समता, संसदीय सम्प्रभुता, नागरिक अधिकारों की सुरक्षा और व्यक्ति को केन्द्र में रख कर उसके मूल्यांकन की नई मान्यता मिली। यह वह युग है जब हिन्दू इस्लाम को प्रायः समाप्त करने का प्रयास कर रहे थे उसी समय उन्हें नये सामाजिक मूल्यों के सामने आना पड़ा जो पूरे हिन्दू, मुसलमान अर्थात् सामन्ती ढाँचे के लिए समानरूप से चुनौती के रूप में थे। रेगुलेटिंग ऐक्ट के बाद यह चुनौती शासन, शिक्षा एवं न्यायालय के माध्यम से भारत में आती है। इसके मुख्य व्यक्ति हैं लार्ड विलियम बैंटिक और मेकाले और उनका सामाजिक सहकार प्रस्तुत करते हैं राजा राम मोहन राय।

मेकाले की शिक्षा व्यवस्था और 'इंडियन पेनल कोड' ने विधि की समानता और कार्यपालिका पर विधायिका के अधिकार या नियंत्रण का श्रीगणेश किया। इनके अतिरिक्त आधुनिकता के तत्कालीन साधन थे विधि का अध्ययन, भारत के विद्यार्थियों का विदेश गमन (ब्राह्मण उदारवाद की पृष्ठभूमि उसी में है), नई शैक्षणिक संस्थाएँ, न्यायालय, प्रशासनिक व्यवस्था, उन्मुक्त व्यापार जिनसे सामाजिक न्याय, नागरिक स्वतन्त्रता, नई आर्थिक व्यवस्था का सूत्रपात होता है जिसको परिणति नियोजित आर्थिक व्यवस्था में हुई। और जनकल्याण, राज्य का न्यूनतम विषय राज्य आदि सामाजिक मूल्य सामने आये, आधुनिकता के क्षेत्रीय

साधन थे बम्बई, मद्रास और बंगाल क्योंकि ब्रिटिश शासन इन्हीं मार्गों से आया। ऐतिहासिक कारणों से नये मूल्य तीनों स्थानों में समान रूप से नहीं अभिव्यक्त होते। बम्बई ने उदारवाद के नरम-गरम रूप की व्याख्या की, मद्रास ने समाज सुधार के साथ नौकरशाही को महत्त्व दिया और बंगाल में उग्र राष्ट्रवाद, क्रान्ति और सामाजिक परिवर्तन का नेतृत्व किया। हमारे बौद्धिक वर्ग को बंगाल और बम्बई ने ही अधिकतम आधुनिक मूल्यों के सम्पर्क में पहुँचाया। यह आधुनिकता सार्वभौम रूप से हमारे जीवन पर अभिव्यक्त होती है, क्योंकि आधुनिकता जिस रूप में आ रही थी उसका सम्बन्ध यूरोप में जीवन के सभी पहलुओं से रहा है, दर्शन, कला, इतिहास, साहित्य सभी कुछ परस्पर सम्बद्ध और एक दूसरे के पूरक रहे हैं।

तत्कालीन आधुनिकता की विशेषताएँ थीं—व्यक्ति को केन्द्र मान कर उसका मूल्यांकन करना, उसके विकास में राज्य का कम से कम हस्तक्षेप, लोक स्वतंत्रताओं पर बल, धार्मिक सहिष्णुता, विवेक एवं बुद्धि का प्रयोग (विवेक का आन्दोलन सत्ताविरोधी रहा है।), मनुष्य की पूर्णता की इस रूप में कल्पना करना कि वह व्यक्ति एवं समूह में वैयक्तिक एवं वर्गीय स्वार्थों से ऊपर उठ कर अपनी क्षमता का सामाजिक विकास करे, राज्य को जनस्वीकृति पर आधारित करना, न्यायायिक प्रशासन एवं नैतिक विचार। इन विशेषताओं के परिणामस्वरूप राष्ट्रीय शिक्षा, आर्थिक स्वतन्त्रता, नारी स्वातन्त्र्य, लौकिकता या धर्म निरपेक्षता और नये आर्थिक ढाँचे का निर्माण सामने आया। इस नयी मान्यता ने 'पराम्परा प्राप्त समाज के केक' को तोड़ने की चुनौती दी। क्षीर सागर एवं विभिन्न अतिरंजित पुराण शैली में प्रस्तुत लोक का शेषशायी विष्णु जिसे इस्लाम की तलवार नहीं समाप्त कर पायी वही हिंदुओं के नये बौद्धिक वर्ग के तर्क एवं उपहास का विषय बन गया। व्यक्ति अपने चरित्र और नैतिकता से देव मण्डल की तुलना ही नहीं करने लगा अपितु उनसे अपने को महान् पाने लगा।

आधुनिकता की इस धारा से प्रवाहित भारतीय बुद्धिजीवी वर्ग जाति, वर्ण, ज्ञाति से हट कर भारतीय समाज का स्वरूप प्रस्तुत करता है जिसमें हिन्दू, मुसलमान आदि सावयव के रूप में मान लिये गये। वर्ग चेतना के लिए नया आधार स्वीकार किया गया। ग्राम, पंचायत, आर्थिक स्वावलम्बन, श्रेणी और निगम के प्रति व्यक्ति के दायित्व के स्थान पर ग्राम और नगर नये आर्थिक ढाँचे के सम्पर्क में आये जिसमें गतिशील एवं क्रान्तिकारी उत्पादन के साधन कार्यशील थे। केन्द्रीयकृत राज्य व्यवस्था, आर्थिक सिद्धान्त आदि के प्रभाव से सम्पत्ति सिद्धान्त, भूस्वामित्व आदि में भी परिवर्तन हुआ। लेकिन इसमें राष्ट्रीयता का व्यापक धरातल बना रहा। इस स्तर पर भारतीय बौद्धिक वर्ग में पश्चिम की अनेक धाराओं से लाभ उठाया। उन्होंने भारतीय दर्शन, ब्रिटिश अर्थशास्त्र, उदारवादी समाज दर्शन, विश्व मानववाद, जर्मन ऐतिहासिक दार्शनिकों का इतिहास दर्शन आदि का प्रयोग नये मूल्यों के साथ किया। यहाँ परम्परा के प्रति विद्रोह की व्यक्तिवादी धारणा को आगे रखा गया, फलतः भारतीय परम्परा की ज्ञानधारा में ऐतिहासिक पद्धति के आधार पर विवेक, लौकिक दृष्टिकोण, ज्ञान एवं बुद्धि के प्रयोग का आधुनिकतम मूल्यांकन किया गया। जो ज्ञान के क्षेत्र में व्यक्ति को केन्द्र बनाता हुआ विश्व की व्याख्या करता है और व्यावहारिक पक्ष में व्यक्ति शासन के स्थान पर विधि शासन के लिए संघर्ष का नेतृत्व करता है इसमें अन्ध विश्वास और बाबावाक्यं से प्रमाण के स्थान

पर वैज्ञानिक एवं ऐतिहासिक दृष्टिकोण अपनाने की प्रवृत्ति जागी।

तत्कालीन आधुनिकता के मूल्य भारतीय समाज के विकास नहीं विदेशी शासन के परिणाम के रूप में आ रहे थे। प्रमाण के लिए, रोमैंटिसिज्म में प्रकृति का जो रूप पश्चिम में आया वह औद्योगिक क्रान्ति और समृद्धि के बाद आया किन्तु यही प्रकृति भारत में पराधीनता और निर्धनता के रूप में आयी। फलतः आधार एक होने के साथ पैठ अलग हो गई, किन्तु अकारण का भाव तो आ ही गया। फलतः आधुनिकता के अनेक अंश भारतीय समाज में अनुकरण के रूप में आये। यहाँ तक कि विवेक का प्रयोग भारत में एक युग में स्वयं विदेशी शासन के समर्थन में किया गया। लेकिन यह स्थिति १९०५ से पूर्णतया स्पष्ट हो जाती है जब मध्यम वर्ग, पूँजीवाद और सुधारवादी आन्दोलन के तीनों विन्दु अपना त्रिकोण पूरा कर लेते हैं। यहाँ ध्यान देने की बात है कि भारत में सुधारवाद पूँजीवाद के साथ अपना गठ-बन्धन बनाये रहा है और पूँजीवाद आज भी मध्ययुगीन प्रवृत्तियों का पोषक रहा है, क्योंकि उसे इससे संरक्षण मिलता रहा, नेहरू जी के नवजागरण या मध्यवर्ग का नेतृत्व कभी भी पूँजीवाद के विपरीत नहीं था। लेकिन इसके साथ यह भी है। यहाँ नवजागरण प्रारम्भ होता है समाज सुधार आन्दोलन से और उसका अन्त होता है राजकीय आन्दोलन के रूप में जिसका नेतृत्व करता है मध्य वर्ग।

भारत में वर्ण, जाति और ज्ञाति के स्थान पर वर्गीय चेतना का रूप आधुनिकता की एक अन्य उपलब्धि है। भारतीय समाज में वर्गीयता विषमता के जन्मगत आधार पर होने से शिक्षा, प्रविधि, प्रशासन, न्यायालय आदि में उच्च वर्ग के लोगों का नेतृत्व रहा है। राजस्थान के भागे हुए बनियों ने ब्रिटिश पूँजीवाद की एजेन्सी सँभाली और देश में पूँजी के एकाधिपत्य का जो रूप प्रस्तुत किया इससे उनका वर्ग बना, किन्तु उसका भी सम्बन्ध जन्म से बना रहा और उनकी आर्थिक समृद्धि का हेतु समाज नहीं, पूर्वजन्मकृत कर्म में उपलब्ध किया गया। बनियों के भी 'पीठ' बने। जैनियों के इस प्रकार के प्रयोग थे ही, आर्य समाज ने भी इसमें योग दिया। फलतः भारतवर्ष में तथाकथित पूँजीवाद वर्ग कभी भी मध्ययुगीन मान्यताओं के विपरीत न जा सका। राष्ट्रीय आन्दोलन में उसका योग इसलिए था कि स्वदेशी ने उसे अपने देश में उसका स्थान बना दिया, इसका परिणाम यह हुआ कि इस आधुनिक पीढ़ी ने वर्गीयता का अर्थ जाति ही समझ लिया, जिससे देश में आज तक वर्गीय चेतना नहीं आ पायी। हमारे बुद्धिजीवियों ने जाति के विपरीत तो बहुत लिखा किन्तु वर्गीय चेतना के आर्थिक और सामाजिक पक्ष को ओझल कर दिया। हमारे साहित्यकारों ने दरिद्रता जाति और वर्गीयता को प्रस्तुत करने में योग दिया किन्तु इन्हें एक भी कर दिया, क्योंकि वह ब्रिटिश समाजवादी धारा से आगे जा ही नहीं सकते थे जिसमें वर्गीयता की यही व्याख्या है। उसका और गान्धीवादी 'वर्ग सहयोग' का ऐसा सटीक जोड़ बैठ गया कि इस प्रश्न पर सम्भवतः आधुनिकता के इस अनिवार्य अंग की सबसे ज़्यादा छीछालेदर हुई। फलतः आज समाजवाद की भी वैसी ही छीछालेदर हो रही है। एक ओर जहाँ विवेकवादी दार्शनिक जन्मना वर्णव्यवस्था और 'कर्मणा वर्णः क्यसा आश्रमः' की मीमांसा में स्वयं को ब्राह्मण बनाने का प्रयास कर रहे थे वहीं दूसरी ओर भारतीय समाज की उपयोगितावादी, लौकिक और जनतांत्रिक व्याख्या भी हुई। तिलक से गांधी तक ने गीता के

माध्यम से आधुनिक मूल्यों के भारतीयकरण का प्रयास किया। दयानन्द, विवेकानन्द और यहाँ तक कि भगवानदास तक की व्याख्या आधुनिक मूल्यों के सामने आत्मसमर्पण के समान ही रही। इन व्याख्याकारों ने इन मूल्यों को जहाँ तक स्वीकार किया, सफल रहे और जिन अंशों में 'ऋषियों' की थाती सँजोने का प्रयास किया वे असफल हुए। इसका सबसे अच्छा प्रमाण रामकृष्ण और विवेकानन्द में मिलता है। रामकृष्ण एक 'सिद्ध' के रूप में अपनी वैयक्तिक सफलता को प्राप्त करते हैं किन्तु विवेकानन्द सामाजिक स्थापना के रूप में असफल हो गये। कारण स्पष्ट है कि हिन्दू व्यक्ति अपने व्यक्तिगत प्रभाव से स्थिर हो सकता है किन्तु हिन्दू मान्यताएँ नहीं चल सकतीं, क्योंकि वे अपना अस्तित्व आधुनिक मूल्यों के सामने समाप्त कर चुकी हैं। स्वयं भारतीय समाज को आधुनिकता ने केवल दर्शन ही नहीं दिया अपितु इसने एक नया वर्ग दिया जो नयी मान्यता का सन्देश वाहक रहा है।

इस नये वर्ग को एक ओर मध्ययुगीन मान्यताओं के विपरीत संघर्ष करना पड़ा और दूसरी ओर उसी साम्राज्यवाद के विपरीत संघर्ष करना पड़ा जिसने उसे आधुनिकता का दर्शन दिया। यह कार्य भारतीय बुद्धिजीवियों के लिए महान् उत्तरदायित्व के रूप में था और उन्होंने इसे निभाया। अमरीका के बुद्धिजीवी साम्राज्यवाद के विपरीत संघर्ष करते रहे और फ्रान्स का बौद्धिक वर्ग मध्ययुगीन मान्यता के विपरीत, किन्तु भारतीय बौद्धिक वर्ग दोनों के विपरीत संघर्ष करता रहा। एक तीसरा संघर्ष शुरू होता है नेहरू जी के साथ पूँजीवाद और आर्थिक विषमता के विपरीत, यहाँ अब हमारे बौद्धिक वर्ग की दो धाराएँ ही जाती हैं। एक धारा बुद्धि, विवेक और ज्ञान से निर्देशित होती रही और दूसरी चेतना और श्रद्धा तथा चरित्र से। संघर्षकाल में इनमें परस्पर सहयोग भी रहता है, प्रथम की प्रतीक प्रस्तुत करने वाले गांधी जो प्रथम धारा के नेहरू को अलग नहीं कर पाते और उनके 'बापू' तो बन पाते हैं किन्तु आदर्श समाज का नक़्शा नहीं बदल पाते जो स्वतंत्रता के बाद अन्तर्द्वन्द्व के रूप में आता है। यहाँ ध्यान देने की दो बातें हैं : गांधी जी ने प्रतिक्रान्ति तो प्रस्तुत की, किन्तु उन्होंने 'श्रद्धा' को 'विवेक' पर विजयी बनाने के स्थान पर 'आत्मप्रेरणा' को समाज का आधार बना दिया जो आज के अस्तित्ववादी व्यक्तिवादियों के व्यक्तित्व या वैदिकों के निर्गुण ब्रह्म के समान होते हुए निरंकुशता का द्योतक भी हो गयी। स्वराज्य पार्टी गाँधी जी के इसी 'आत्मप्रेरणा' के व्यक्तिवादी प्रयोग की परिणित थी। 'आत्मप्रेरणा' समाज के साथ जब भी सफल हुई उसमें गांधी जी ने दास, नेहरू (पिता पुत्र) और पटेल (दोनों भाई) के विवेक का प्रयोग किया। इसका परिणाम यह हुआ कि द्वितीय पक्ष से सम्बद्ध बौद्धिक वर्ग अपने आदर्श की चीख तो सुनाता है किन्तु कोई समाधान नहीं प्रस्तुत कर पाता, अन्ततः आदर्शवादी होकर चरित्र, श्रद्धा और चेतना की मध्ययुगीन कर्मकाण्डियों जैसी आचार संहिता प्रस्तुत कर आधुनिक प्रयोगों पर पश्चाताप करता है, इसके विरीत प्रथम पक्ष का बुद्धिजीवी वर्ग अपनी मान्यताओं में अत्यन्त स्पष्ट रहता है।

१८वीं शती से प्रारम्भ होकर १९वीं शती में पूर्ण विकसित एवं २०वीं शती में संघर्ष का नेतृत्व करने वाली आधुनिक मूल्यों का स्रोत पश्चिम की शिक्षा, बुद्धिजीवीवर्ग, राजनीतिक दर्शन एवं आर्थिक ढाँचा रही है, भारतीय परिस्थिति में इसका प्रयोग विभिन्न रूपों में हुआ।

समाज सुधारकों से राजनीतिक कार्यकर्ताओं तक आधुनिकता के विभिन्न प्रयोगों के आधार रूप भी यही रहे हैं। राजा राममोहन राय के सुधार, विवेकानन्द के वेदान्त एवं ज्ञानयोग और दयानन्द के वेद व्याख्यान में पूर्व पश्चिम के समन्वय की बेमेल खिचड़ी, विवेक का आधार एवं उदारवादी तत्त्वों की प्रत्यक्ष स्वीकृति दिखाई देती है, टैगोर का 'नरहरि' इस अन्तर्द्वन्द्व को स्पष्ट करता है। इन दो शताब्दियों में भारतीय बुद्धिजीवी वर्ग पश्चिमी मूल्यों को आधुनिकता के रूप में स्वीकार कर भारतीय जीवन में व्याख्या एवं अनुकरण के रूप में उतारता रहा है। उपनिषद् के शान्तम् शिवं अद्वैतम् का सत्यम्, शिवम् सुन्दरम् के रूप में ऐसा अनुवाद हुआ जैसे दोनों में कोई अन्तर ही नहीं है। यहाँ यह भी ध्यान में रखना पड़ेगा कि मामफ़ोर्ड रिपोर्ट के मानस पुत्र (इन्टलेक्चुअली आवर चिल्ड्रेन) ने ब्रिटिश बुद्धिजीवियों की उपलब्धियों का प्रयोग ब्रिटिश साम्राज्य के विनाश में वैसे ही किया जैसे अपने मध्ययुगीन रूढ़ियों के विपरीत उनके मूल्यों का किया था।

इस स्तर पर आधुनिक मूल्यों का भी अभिनवीकरण हुआ। मानवविकास की अनिवार्यता व्यक्ति की पूर्णता और पारस्परिक संबन्धों के विकास एवं उद्देश्यों की प्राप्ति में अहिंसा के प्रयोग को इस स्तर की उपलब्धि मानना पड़ेगा। हमारा बौद्धिक वर्ग इन मान्यताओं के लिए संघर्ष करने लगा। यहाँ राजनीतिक संघर्ष समाज सुधार के साथ समाज के भावी रूप एवं उसके आदर्श की कल्पना करता है। इसमें राष्ट्र, समाज और नये वर्ग प्रश्न के रूप में आये किन्तु इस युग के बुद्धिजीवियों ने आशा, मर्यादा और स्वर्णिम भविष्य के आधार पर उनका समाधान प्रस्तुत किया। इसमें आधुनिकता की पश्चिमी मान्यता स्वीकार की गयी, लेकिन गाँधी युग से भारतीयकरण की संज्ञा दी गयी। व्यक्ति को दिमाग़ (इन्टेलेक्ट) के स्थान पर दिल (हार्ट) के माध्यम से निर्देशित करने में विवेक को ध्वंसात्मक माना गया। यहाँ विवेकवादी नवजागरण की प्रतिक्रिया आती है, लेकिन इस परिस्थिति में भारत की अपेक्षा पश्चिम के मूल्य गाँधी जी में अधिक रहे। उन्होंने जिन मान्यताओं को भारतीय परिवेश में रखा वे वैज्ञानिक एवं औद्योगिक विकास के समय पश्चिम में मानवतावादियों के पूर्वपक्ष रह चुके थे। १९०६ के बाद विवेक को तिलांजलि देते हुए गाँधी ने जिस चेतना, श्रद्धा और चरित्र को अपना आधार स्तम्भ बनाया उनकी परिणति व्यक्ति के सामाजिक रूप में आत्मप्रेरणा में होती है। गाँधी युग के प्रारम्भ होते दिल - दिमाग़ का अन्तर्द्वन्द्व प्रारम्भ हो जाता है, किन्तु गाँधी जी के व्यक्तित्व एवं राजनीतिक कारणों से वह टल सा जाता है। इसका प्रमाण गाँधी एवं भारतीय परम्पराओं के बौद्धिक वर्ग पर समन्वय एवं मध्यम वर्ग की नैतिकता के रूप में अभिव्यक्त होता है। इसका सम्बन्ध राष्ट्रीयता, परम्परा, भारतीयता और आदर्श की मूलभूत व्याख्या में आधुनिक मूल्यों को आत्मा के रूप में स्वीकार करने में देखा जा सकता है। इसमें संज्ञाएँ तो पारम्परित होती रहीं किन्तु मूल्य आधुनिक थे प्रमाण के लिए रामराज्य, असहयोग, स्वराज्य, सविनय अवज्ञा, हरिजन, प्रार्थना सभा, आश्रम आदि की संज्ञायें इसी प्रकार की हैं। इनमें सर्वदा अन्तर्द्वन्द्व कार्य करता रहा है। इसका ही परिणाम है कि स्वतन्त्रता के समय लौकिकता, धर्मचक्र की लौकिक व्याख्या स्वतन्त्रता, जनतन्त्र, शान्ति और तरक्क़ी के आधुनिक मूल्यों की स्वीकृति, व्यक्ति की पूर्णता और उसकी सामाजिक स्थापना में यह मूल्यांकन अत्यन्त स्पष्ट हो जाता है। इतना अवश्य है

कि १९२० से आज तक हमारे बौद्धिक वर्ग की एक शाखा असन्तुष्ट, उदासीन और आधुनिक मूल्यों के प्रति प्रतिक्रियावादी रही है। इसने नैतिकता, चरित्र एवं श्रद्धा की व्याख्या करने तक ही अपने को सीमित करते हुए अन्त में अतीत का अपने को चारण बना लिया। समस्याओं के समाधान के साथ संबन्ध न रख कर घृणा और उपेक्षा से उन्हें ओझल करने का उन्होंने स्वाँग किया। वस्तुतः मात्रात्मक भेद के साथ समन्वय के साथ गाँधी जी ने भी आधुनिकता का वर्णन किया था। गीता की 'समालोचना' तो उन्होंने की किन्तु उसकी व्याख्या नहीं की।

स्वतन्त्रता के बाद हमारे मूल्यों में गतिरोध उत्पन्न होता है। भौतिक मन (मैटेरियलिस्टिक साइकॉलोजी) ने व्यक्ति में अन्तर्निहित मस्तिष्क की प्राथमिकता (प्राइमेसी आफ माइण्ड विथइन दी मैन) को चुनौती दी। शिक्षा ने आधुनिक मूल्यों की स्थापना के स्थान पर नियुक्ति का 'पासपोर्ट' हो गयी। यही नयी पीढ़ी का शिक्षा सुधार है। मैकाले की शिक्षा ने मूर्तिभंजक पैदा किया या नहीं किन्तु साम्राज्यध्वंसक तो पैदा ही किया। किन्तु नयी शिक्षा ने ड्रेन पाइप ट्राउज़र संस्कृति उत्पन्न कर दी। यह भी पीढ़ी जब कभी कोई आन्दोलन करती है तो अपने आदर्शों के प्रति प्रेरित होकर नहीं, अपितु निरुद्देश्य और उसमें भी वे 'अभिनय' करते हैं। उदारवाद एवं समाजवाद ने व्यक्ति को सभी बन्धनों से मुक्त किया और उसे पूर्ण किया, लेकिन अस्तित्ववादी व्यक्तिवाद ने व्यक्ति को अपनी आत्मनिष्ठा से भी मुक्त कर दिया। मूल्य, आदर्श, लक्ष्य आदि व्यवहारवाद में आधुनिक नहीं परम्परावादी मूल्य मान लिये गये। आज का बौद्धिक वर्ग बुद्धि, विवेक और ज्ञान के स्थान पर प्रवृत्तियों एवं भावनाओं की स्थापना को नयी मान्यता मान रहा है। फलतः एक बार जहाँ विवेक ने उच्चादर्शों के लिए संघर्ष की प्रेरणा दी थी वहीं आज प्रवृत्तिमार्गी बौद्धिक वर्ग व्यक्ति में पाशविक वृत्तियों का अध्ययन ही नहीं व्यवहार की भी मीमांसा कर रहा है। इस स्तर पर आधुनिकता का तात्पर्य है—ज्योतिष में विश्वास, राज्यशक्ति पर नियंत्रण के लिए संघर्ष किन्तु उस नयी पीढ़ी को पैदा करने का प्रयास जो आत्मनिष्ठा और आदर्शविहीन हो और उसका उद्देश्य मुनाफ़ा और लाभ के साथ ही उसमें राष्ट्रीय मूल्य एवं शिक्षा की उपेक्षा का विकास हो इसका तात्कालिक प्रमाण है शिक्षा के सम्बन्ध में अमरीकी योजना और उसके लिये दिया गया छागला का वक्तव्य।

स्वतन्त्रता के समय पश्चिम से आने वाली आधुनिकता के प्रति अनास्थावान् बौद्धिक वर्ग के लिए ऐसा इसलिए आवश्यक था कि उसे राष्ट्रीय सम्मान को ऊपर उठाना था, लेकिन स्वतंत्रता के बाद यह दृष्टिकोण नियोजन के साथ असंगतिपूर्ण हो गया। भारतीय परम्परा और नियोजन की आधुनिकता दोनों दो जगह बिखर गये। गाँधी जी ने जो व्यक्ति की व्याख्या की थी उसका लोप इस नियोजन में अत्यन्त स्पष्ट है। राज्य और समाज की जो व्याख्या उन्होंने की थी उसका मेल आज जन-कल्याणकारी राज्य और समाजवादी समाज के साथ नहीं हो पाया और असंगति में शक्तिशाली होकर सामने आ गयी नौकरशाही गाँधी जी का 'सत्याग्रही' त्याग के स्थान पर आधुनिक आर्थिक विकास में ठेकेदारी के लिए सर्वस्व त्याग करने लगा। यदि गाँधी की चेतना, श्रद्धा और चरित्र की आँच में तपा व्यक्ति इस हालत में आ गया तो नयी पीढ़ी का क्या होगा ?

इस प्रश्न का एक नये रूप में देखना होगा। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद की आधुनिकता

का नेतृत्व प्राविधिक शक्ति ने किया जिसका दर्शन है आधिक्यतम, उस आधिक्य पर नियंत्रण हो गया पूँजीवादी समाज के ठेकेदार अमरीका का जिसमें जनतंत्र का स्वरूप थिर हो चुका है। वह उसमें किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं चाहता। वह इस समय 'यथा स्थिति' का व्याख्याकार है जिसे 'व्यवहारवाद' की संज्ञा दी जा रही है। वह आदर्श के स्थान पर व्यवहार की बात चाहता है। नया आदर्श उसके 'आसमान महल' को ढहा देगा। अतएव वहाँ का बुद्धिजीवी वर्ग इस समय आदर्श युग के अन्त की बात (एंड आफ़ आइडियॉलॉजी) कह रहा है। वह इस चक्र में विश्व के बुद्धिजीवियों को बाँध रहा है। भारत के आधुनिक बौद्धिक वर्ग की आधुनिकता यही है, इसके लिए अन्तर्राष्ट्रीय पूँजीवादी षड्यन्त्र है—शीत युद्ध की स्थिति रखना और मुद्रा स्थिति और महँगाई के लिए रहन-सहन के नारे को मूर्तरूप देना। फलतः आज का बौद्धिक वर्ग समाज के आर्थिक दर्शन नहीं, रहन-सहन के स्तर की बात करता है। इसके साथ देश के नेतृत्व की सत्ता के मोह ने व्यक्ति को राज्य का अंग बना दिया। नियोजन, समाजवादी समाज आदि के कारण व्यक्ति पूर्णता राज्य में ही संभव होने की धारणा से बौद्धिक वर्ग का सरकारीकरण प्रारम्भ हो गया। वह समाज के परे सरकारी कार्यालय का मुंशी हो गया।

हमारे समाजवाद में अधिकार के स्थान पर कर्तव्य और त्याग को आधार बनाया गया है। इसमें वर्गीय चेतना जिन अन्यथा रूपों में विकसित हुई थी वह वर्ग सहयोग के उस स्तर पर पहुँच गयी जहाँ विरला समाजवाद के संवादवाहक बन गये। त्याग और तपस्या का तात्पर्य जयप्रकाश एवं नयी पीढ़ी के राजनीतिक सन्यास से कामराज योजना तक है। नेहरू का पंचशील बुद्धि, विवेक और ज्ञान से मुड़ कर बुद्ध की ओर चला। फलतः आधुनिक बौद्धिक वर्ग अकबर और अशोक की धार्मिक सहिष्णुता को ही लौकिकवाद समझ बैठा। अन्तर्राष्ट्रीयता स्वतंत्रता के बाद के आधुनिक मूल्यों में महान् उपलब्धि मानी जा सकती है। लेकिन इसका तात्पर्य भारत के व्यक्तित्व को समाप्त करना हो गया, उसमें आधुनिकता की स्थापना का प्रश्न ही नहीं रहा। नयी पीढ़ी 'सांस्कृतिक' कार्यक्रमों और 'सिनेमा संस्कृति' से होती हुई 'प्लास्टिक युग' तक आ गयी। तथाकथित राज्यवादी शक्तियाँ इस युग में बूशर्ट को भी वेदों में खोज रही हैं। जहाँ अतीत का अध्ययन नवजागरण के लिए हुआ था वहाँ अतीत के वचन का उद्धरण नेता लाटरी के समर्थन में करते हैं। इस आदर्शहीनता, कुण्ठा ने क्षमता एवं योग्यता के स्थान पर 'चाँस' से स्वत्व प्राप्ति की नयी धारणा में ही महान् सेकुलरिस्ट की कन्या को 'माँ' के चरण में बैठ कर आशीर्वाद लेते हुए रुद्राक्ष की माला इसीलिए ली कि उसमें देश के नेतृत्व प्राप्त करने का चमत्कार है। प्रविधि के उच्चतम शिखर पर पहुँचने वाला आज का समाज और उसका गृहमंत्री लोक सभा में अपने ज्यातिषी के लिए सफ़ाई देता है। ऐसी स्थिति घोर अस्थिरता के युग में आती है जब व्यक्ति वैज्ञानिक एवं ऐतिहासिक मूल्यों से हट कर निष्क्रिय बन जाता है।

आधुनिकता के अभिनिवेश में उक्त कुछ बातें निराशाजनक सी हो गयी! इनमें आधुनिकता के कुछ मूल्य हो सकते हैं किन्तु मूलतः यह स्थिति का मूल्यांकन है। आधुनिक मूल्यों का प्रश्न इस रूप में स्वीकार करना पड़ेगा कि हमने अपने समाज में उन मूल्यों के उपकरण प्रस्तुत करना प्रारम्भ किया है जिनसे आधुनिकीकरण स्वतंत्रता-कालीन मूल्यों की

स्थापना की जा सके। प्रविधि विज्ञान, समाज विज्ञान आदि मान्यताएँ अपना व्यवहार ले रही हैं। उन्हें पूँजीवादी, षड्यंत्र और नेतृत्व की लोलुपता ने अन्यथा दिशा दे दी है। वर्गीय चेतना, समाज के लौकिक कारणों को मीमांसा, व्यक्ति के सामाजिक न्याय की स्थापना, मानववादी संबन्ध और समाज के सार्वभौम विकास मध्ययुगीन रूढ़ियों के स्थान पर उत्पादन के साधनों में परिवर्तन के साथ नये मूल्यों की स्थापना आदि के हेतु समाज में आ रहे हैं। आज के बौद्धिक वर्ग को उसी रूप में इन्हें आधुनिकता स्वीकार कर उनका प्रयोग करना है जैसे हमारी पहली पीढ़ी ने अपने त्रिकोणात्मक संघर्ष में किया था और विजय प्राप्त की। सामाजिक क्रान्ति में विज्ञान, प्रविधि और शिक्षा के साथ बुद्धि, विवेक और ज्ञान का संयोग यही आधुनिकता है और इसके लिए सर्जनात्मक विचार देना आधुनिक बौद्धिक वर्ग का कर्तव्य है।

आधुनिकता और वर्तमान संदर्भ में भारतीय बौद्धिक वर्ग की स्थिति

लक्ष्मीकान्त वर्मा

आज़ादी के अठारह वर्ष बाद आज हम जिन परिस्थितियों में जी रहे हैं उनमें उत्तरोत्तर नपुंसकता, विवशता, आक्रोश और अपराजेय निराशा का वातावरण दिन प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है। कहने को भारत में चण्डीगढ़ ऐसा नगर भी है और पंचवर्षीय योजनाएँ भी हैं, नासिर, टीटो, दगाल और विल्सन के साथ बैठ कर भोजन करने वाला एक प्रतिष्ठित प्रभुता सम्पन्न वर्ग भी है और नयी दिल्ली, कलकत्ता, बम्बई जैसे उद्योगों के केन्द्र भी हैं। एक अदद मुर्दा आवाज़ों की ममीज़ वाला पार्लियामेन्ट भी है और यदि मैं जवाहरलाल नेहरू के शब्दों में कहूँ तो भाखरा नंगल, दुर्गापुर, राउरकेला और रिहन्द जैसे तीर्थस्थान भी हैं। यूनिवर्सिटियों की संख्या बढ़ गई है, देश में शिक्षितों की संख्या भी बढ़ती जा रही है और रेडियो, मोटर, रेफ्रीज़रेटर आदि के रखने वालों की संख्या भी बढ़ गई है। हमारे वैज्ञानिकों की लगभग ५० प्रतिशत संख्या अमरीका, केनाडा और यूरोप के अन्य देशों में काम करने वाली प्रतिभाएँ डालर पैदा करने में लगी हैं और उसी के साथ यह भी सत्य है कि हमारे देश की स्वराष्ट्र नीति के विरुद्ध तो लोग हैं ही साथ ही गत बीस वर्षों में हमने या तो भीख माँगना सीखा है या कर्ज़ लेना, या तो अकाल के दिनों को जन्म दिया है या एक प्रकार को रेगिस्तानो संस्कृति विकसित की है जिसमें कला, संगीत, नृत्य सबको एक बिकाऊ और दिखाऊ रूप में ऊट-पटांग ढंग से बनाया या सँवारा है। कहने का सारांश यह है कि आज हम ऐसी जगह पहुँच गए हैं जहाँ अनिवार्यतः हमारी दृष्टि हमें इस बात के लिए मजबूर करती है कि हम एक बार पुनः सारी स्थितियों का सर्वेक्षण करें और आज की इस बाँझ स्थिति से मुक्ति के साधन और मार्ग ढूंढ़ने की चेष्टा करें। क्योंकि जहाँ यह सही है कि राजनीतिक स्तर पर सरकार को गाली देकर या कोस कर हम अपना क्षोभ भर शान्त कर सकते हैं वहीं यह भी सत्य है कि हमें अपने ढंग से वर्तमान जीवन की अभिशप्त परिणतियों से उन स्रोतों को ओर जाना है जहाँ से यह अभिशाप निरन्तर बढ़ता जा रहा है। और तब आज की बौद्धिक नपुंसकता के अपरिहार्य कारणों की खोज में हमें लगभग इतिहास के उस मोड़ पर जाना होगा जहाँ से हमने आधुनिक होने का स्वाँग रचा है अथवा जहाँ से भारत ने सर्वप्रथम आधुनिकता और भारतीयता को आमने-सामने रख कर देखने की चेष्टा की है। दूसरे शब्दों में हमें आज की परिस्थितियों में और रेगिस्तानी परिणतियों में उनका भी आकलन करना होगा जो एक शुतुरमुर्गी मनोवृत्ति के कारण आज के उठते धुंध में अपनी गर्दन बालू में गड़ा कर सुरक्षित रखने के प्रयास में सम्पूर्ण वर्तमान को

बिना भोगे ही बिता देना चाहते हैं, साथ ही उन नख़लिस्तानों का भी जायज़ा लेना होगा जिसमें कमल की खेती वाली संस्कृति एक पागलपन से दूसरे पागलपन की ओर उन्मुख करने में प्रयत्नशील है, साथ ही उन मूल्यों को भी देखना होगा जिसे हमने इतिहास में दोगली मनोवृत्तियों के आधार पर प्रश्रय दिया है और उसे ही सबसे बड़ा लक्षण मान कर निदान के बाह्य उपकरण जुटाना प्रारंभ कर दिया है। प्रस्तुत संदर्भ में परिस्थितियों के सम्पूर्ण विश्लेषण की अपेक्षा मैं अपने देश के पुनर्जागरण के उस ऐतिहासिक सन्दर्भ में जाना ज़रूरी समझता हूँ जहाँ सारा आवाँ का आवाँ ही टेढ़ा हो गया था और जिसका प्रतिफलन आज एक वक्र संस्कृति के रूप में हमारे सम्पूर्ण व्यक्तित्व, चिन्तन और विचार को कृत्रिम बनाने में सहायक रहा है।

× × ×

जहाँ तक मैं समझता हूँ १८५७ का विद्रोह पहला साक्षात्कार था, जहाँ भारत की सम्पूर्ण जीवन पद्धति ने बड़ी ईमानदारी के साथ उन्नीसवीं सदी के ह्वाईट मैन्स बर्डेन के विरुद्ध सीधी टक्कर ली थी। उस टक्कर में सफल हुए या असफल, हम उस विद्रोह के योग्य थे या अयोग्य, हम इतिहास चक्र को अपने पक्ष में मोड़ सकते थे या नहीं, ये बातें अलग हैं, किन्तु यह सत्य है कि १७५७ में प्लासी के युद्ध में जिस अंग्रेज़ी शोहदेगिरी और बाज़ारू नीति के विरुद्ध सिराजुद्दौला हारा था वह अपने उग्र रूप में सौ वर्षों तक पनपती रही और पूरे सौ वर्षों के बाद भारतीय मानस ने उस चक्र को फिर अपने हाथ में लेना चाहा और उस दोगली, गन्दी और फ़ाहिशा राजनीति और संस्कृति के विरुद्ध आवाज़ उठानी चाही जिसने उस पूरे अन्तराल में देश के मनोबल, उसकी इच्छा शक्ति को खण्डित करने का प्रयास किया था। प्लासी की लड़ाई में तो मध्ययुगीन भारत मध्ययुगीन इंग्लैंड से लड़ रहा था। यद्यपि औद्योगिक क्रान्ति के पहले चरण से निकल कर इंग्लैंड १७५७ में काफ़ी हद तक अपने मध्यकालीन कलेवर को बदल चुका था लेकिन उसके संस्कार, आचार-विचार, जीवन पद्धति में अभी भी मध्ययुगीन सामंती संस्कृति विद्यमान थी। १७५७ में अंग्रेज़ों की विजय के साथ हमें उस समय के अंग्रेज़ मन को भी देखना चाहिए। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि उस समय तक अंग्रेज़ों ने चार्ल्स प्रथम की हत्या कर दी थी, जेम्स प्रथम को अपदस्थ कर दिया था। ग्लोरियस रिवोल्युशन के माध्यम से अंग्रेज़ी जनता ने इंग्लैंड के निरंकुश शासन को कई पटखनियाँ देकर उसे पंगु बना दिया था और मध्ययुगीन कलेवर से निकल कर आधुनिकता की ओर अग्रसर हो रहा था। इसके साथ हमें यह भी नहीं भूलना चाहिए कि जो अंग्रेज़ फ़ौज भारतीयों से लड़ रही थी वह मूलतः एक नये स्वप्न के साथ निकली थी और क्लाईव केवल बेईमान नहीं था, वह इंग्लैंड की जनता की शक्ति का प्रतिष्ठापक था, क्योंकि इंग्लैंड उस समय स्वप्न देखने वाले असंख्य अंग्रेज़ों का देश था जो अपने विस्तार में जन शक्ति का विस्तार देख रहा था। प्लासी की लड़ाई इंग्लैंड की जनता लड़ रही थी और भारत में प्लासी की लड़ाई यहाँ का नवाब लड़ रहा था और जनता प्लासी के युद्ध-क्षेत्र से कुछ ही फ़र्लांग दूर हल से खेत जोत रही थी और बन्दूकों और तोपों की आवाज़ सुन कर खेतों में हल बैल छोड़ कर हमारा किसान घर भाग गया था और जब प्लासी का युद्ध समाप्त हो गया तब शाम को अपना हल बैल खेत से लेकर अपने घर वापस जा कर आराम की नींद सो गया था। यह बात सही है या ग़लत इसकी

प्रामाणिकता में न जाकर हम इस कथ्य से केवल यही निष्कर्ष निकालते हैं कि भारतीय जीवन पद्धति में स्वतंत्रता का मूल्य केवल शासक वर्ग, नवाबों और राजाओं तक सीमित था। शेष जनता का उस लड़ाई से कोई मतलब ही नहीं था। जैसा मैंने ऊपर कहा है अंग्रेज़ शासकों की मनःस्थिति यह नहीं थी। उन्होंने अपने यहाँ की राज्य-सत्ता को समाप्त कर दिया था और उसके स्थान पर जन सत्ता का एक रूप प्रस्तुत किया था। इसलिए १७५७ तक अंग्रेज़ी जन मानस में उपनिवेश विस्तार का अर्थ राज सत्ता के विस्तार के रूप में में नहीं था वरन् उपनिवेशों के विस्तार का अर्थ जन सत्ता स्थापना और अंग्रेज़ी जनता की समृद्धि था। छुट-फुट राजे महाराजे १७५७ में जिस फ़ौज और जिस मनोबल से लड़ रहे थे उसमें कभी यह प्रश्न उठता ही नहीं था। उनकी सेना नौकर सिपाहियों की सेना थी, उनका मन शासक का मन था और उनकी इच्छा शक्ति को स्वतंत्रता का कोई मूल्य उस सीमा तक नहीं छूता था जिस सीमा तक अंग्रेज़ों के और भारतीय शासकों के मनोबल में यह मौलिक अन्तर था।

के० एम० पन्निकर जैसे ब्रिटिश विचार वाले इतिहासकार प्लासी की लड़ाई को इस दृष्टि से नहीं देखते। वह प्लासी की लड़ाई को केवल हस्तान्तरण के रूप में देखते हैं। वह शायद यह नहीं मानते कि सिराजुद्दौला को प्यासी में पराजित होकर पराधीनता का अनुभव हुआ होगा। उनके मतानुसार यह केवल सत्ता हस्तांतरण की लड़ाई थी। इतिहास की इस दृष्टि ने हमें आज वस्तुस्थिति को समझने में बड़ी काठिनाइयाँ प्रस्तुत कर दी हैं। यह सही है अंग्रेज़ों की अपेक्षा भारतीय इस युद्ध में अधिक मध्यकालीन थे और अंग्रेज़ कम या मध्यकाल के अन्तिम चरण से गुज़र रहे थे। लेकिन यह कि सिराजुद्दौला और अंग्रेज़ों की लड़ाई राऊण्ड हेड क्रामवेल के ब्रिटिश सैनिकों और चार्ल्स प्रथम के ब्रिटिश शासक जैसी लड़ाई थी, कहना इतिहास को धोखा देना है। सत्ता हस्तांतरण की लड़ाई अंग्रेज़ क्रामवेल और अंग्रेज़ चार्ल्स प्रथम में तो हो सकती थी किन्तु अंग्रेज़ क्लाईव और भारतीय सिराजुद्दौला के बीच की लड़ाई हस्तान्तरण या आदान-प्रदान की लड़ाई नहीं थी, वरन् अपने-अपने अस्तित्व की रक्षा को लड़ाई थी, देशी और विदेशी की लड़ाई थी, आज़ादी और ग़ुलामी की लड़ाई थी। पन्निकर साहब ने अंग्रेज़ इतिहासकार राबर्ट्स के समर्थन में प्लासी के युद्ध की पराजय का सारा श्रेय सिराजुद्दौला की सेना संगठन, और उसके किराये के सिपाहियों पर डाल दिया है। गहरी दृष्टि के अभाव में वह उन दोनों पक्षों के मन का विश्लेषण करने में असमर्थ रहे हैं। वह यह नहीं देख पाते थे कि स्वाधीनता और बराबरी के नारे के बाद जो सेना भारत में अंग्रेज़ी सत्ता की सुरक्षा के लिए लड़ रही थी उसके मन में एक दूसरा ही उत्साह था और जो सेना सिराजुद्दौला लेकर लड़ रहा था उसके पीछे कोई क्रान्तिकारी दर्शन नहीं था। केवल सिराजुद्दौला को स्वतंत्रता के लिए सेना लड़ रही थी। उसमें वह हल जोतने वाला नहीं शामिल किया गया था जबकि चार्ल्स प्रथम की हत्या में वह हल वाला भी शामिल रहा होगा।

इतिहास की ग़लत दृष्टि वाले के० एम० पन्निकर जैसे अंग्रेज़ भक्त इतिहासकार ने हस्तान्तरण के बाद मैकाले जैसे व्यक्ति को, जिसने एक प्रकार के विदेशी

मन के क़ानून को हमारे देश पर आरोपित कर डाला, भारत के आधुनिक मनु के नाम से सम्बोधित किया है। हमारे देश की अन्धी, कुत्सित और नितान्त अंग्रेज़ परस्त दृष्टि ने मैकाले द्वारा बनाए गए क़ानून को भारत की आधुनिकता का प्रथम चरण माना है। श्री पन्निकर जैसे इतिहासकार का यह मत है कि मैकाले ने भारत में सब से पहले व्यापक रूप में और निश्चित तरीक़े से क़ानून का शासन स्थापित किया। सभी के लिए क़ानून के सामने एकरूपता की स्थापना की। १७५७ यानी प्लासी की लड़ाई के बाद से १८४४ तक के बीच भारती जन मानस में क्या था, वह किस स्थिति में था, कहाँ वह इस 'एकरूपता' का समर्थक था और कहाँ यह एकरूपता लादने के लिए अंग्रेज़ षड़यंत्र कर रहा था, इस पर इन इतिहासकारों ने ध्यान नहीं दिया। उन्होंने हिन्दू लॉ और मुस्लिम लॉ जैसी पद्धतियों के ऊपर विचार नहीं किया। उन्होंने ब्राह्मण के खिलाफ़ शूद्र भी गवाही दे सकता है इस एकरूपता को तो देखा लेकिन ब्राह्मणत्व के लिए हिन्दू कोड और मुसलमानों के लिए मुसलिम कोड जैसी प्रवृत्तियों में जो एक वृहत्तर विभाजन छिपा था, ब्राह्मण और शूद्र को लड़वाने की जो भावना छिपी थी उसको नहीं देखा। अभी हाल में मैकाले की क़ानून संबंधी प्रस्तावना समिति के एक विवरण में यह स्पष्ट देखा जा सकता है, यह एकरूपता किस प्रकार उस फूट के अंकुर को विकसित करने में सहायक रही है उसे हमारे इतिहासकार आज भी नहीं देख पाते हैं। सबसे बड़ा व्यंग्य यह है कि राजा राममोहन राय से लेकर जवाहरलाल नेहरू और डा० राधाकृष्णन् तक इसी एकरूपता के क़ायल थे और हैं इससे आगे वह नहीं देख पाते कि इस कागजी एकरूपता ने कहाँ-कहाँ और कैसे-कैसे हमारी समग्रता और विविधता को तोड़ा है और हमारी समग्र सहनशील दृष्टि को एकरूपता के भ्रम जाल में डाल कर केवल भेद ही भेद देखने के लिए विवश कर दिया है।

इस भ्रम का प्रमाण तो हमें १८२३ में लार्ड एमर्हस्ट के पास लिखे गए राजा राममोहन राय के उस पत्र में मिलता है जिसमें उन्होंने संस्कृत शिक्षा को अपर्याप्त बताते हुए यह लिखा था कि पाश्चात्य शिक्षा भारत में एकरूपता लाने के लिए कितनी ज़रूरी है। यही नहीं राजा राममोहन राय की मृत्यु के बाद १८४४ में टैगोर परिवार के द्वारिकानाथ टैगोर इसी पाश्चात्य शिक्षा को ग्रहण करने के लिए जब इंग्लैंड गए तो उस समय की आधुनिकता की दौड़ में आगे रहने वालों को लगा कि इस प्रकार की यात्रा से ही भारत आधुनिक हो गया है। १७५७ से लेकर १८५७ के बीच यह एक विचित्र स्थिति थी जिसमें अंग्रेज़ बराबर पूरे देश में एकरूपता स्थापित करने के प्रयास में बराबर यही स्थापित करने में लगा रहा कि हममें विविधता है, हममें अनेकता है, हम में फूट है। उसने कभी यह दिखाने की चेष्टा नहीं की कि हम में विविधता होते हुए भी विकल्प की छूट है, और फूट दिखने पर भी एक समग्र दृष्टि है। क़ानून के इस एकरूपता के नाम पर उसने पुलिस को डण्डा देकर खड़ा किया, शिक्षा में एकरूपता लाने के नाम पर उसने अंग्रेज़ी को प्रतिष्ठित किया, फूट फैलाने के नाम पर उसने विकल्प की शक्ति को कमज़ोर बनाया और बार-बार समग्रता की दृष्टि को धुँधला बनाने का प्रयास किया।

इसी एकरूपता को स्थापित करने के लिए उसने राजनीतिक स्तर पर उत्तराधिकार

क़ानून को इन राज्यों को सम्मिलित करने लिए बनाया और चाहा कि पूरे भारत के सांस्कृतिक मन को कमज़ोर बना कर वह राजनीतिक एकता और एकरूपता स्थापित कर ले। भारत के सामने उसने जो एकरूपता स्थापित की वह हिन्दू के सामने रामायण या गीता रख कर, मुसलमान के सामने क़ुरानशरीफ़ रख कर, पारसी के सामने ज़ेन्दाबस्ता रख कर और सिक्ख के सामने गुरु ग्रन्थ साहब को रख कर प्रस्तुत किया। कहने का सारांश यह कि अंग्रेज़ों ने कृत्रिम प्रकार की एकरूपता स्थापित करने के प्रयास में हमारे देश के बौद्धिक वर्ग को एक भ्रान्ति में डाल दिया। उनसे उनकी समग्रता की दृष्टि छीन कर अनेकता और विविधता को भेद का पर्याय बना कर, उन्होंने एक आरोपित एकरूपता ईजाद करने पर बल दिया क्योंकि ऐसा करने से भेद अधिक बढ़ने की संभावना थी, एकरूपता की संभावना कम थी। यहीं पर ह्वाईट मैन्स बर्डन की भी बात आती है। उन्नीसवीं शताब्दी में औद्योगिक क्रान्तियों और वैज्ञानिक विकासों के कारण पूरे यूरोप में एक ऐसी शक्ति आई थी जिसने उन्हें संसार में फैल कर अपने-अपने बाज़ार स्थापित करने के लिए विवश किया था। यह बाज़ार दुनिया के पिछड़े हुए देशों में ही स्थापित हो सकते थे। यूरोप के पूंजीवाद ने अपनी विस्तारवादी नीति को एक प्रकार के आदर्शवाद से सबद्ध करने का प्रयास किया। उसको लगा कि वह ईश्वर द्वारा चुनी गई जाति है अर्थात् वह ईश्वर द्वारा संसार को सभ्य बनाने और आधुनिक बनाने के लिए चुनी गई है। 'दे आर द मैन आफ़ डेस्टिनी एण्ड इट इज़ देयर ड्यूटी टु रेज़ एण्ड रिफ़ार्म द रेस्ट आफ़ द बैकवर्ड ह्यूमेनिटी।' क्रिश्चियन धर्म को उस उन्नीसवीं सदी में पूंजीवादी व्यवस्था के समर्थन में यह ऐतिहासिक रोल अदा करना था। डेविड लिविंग्स्टन जैसे व्यक्तियों ने अफ़्रीका और भारत अर्थात् काले लोगों के देश में एक प्रकार का यह भी आन्दोलन चलाया। क्रिश्चियन मिशनरियों ने उन्नीसवीं शताब्दी में, यूरोप की फैलती औपनिवेशिक शक्ति को अपने इस धर्मवाद से विशेष योग दिया। भारत में माइकेल स्काट साहब आज उसी मतवाद के जीवित नमूने हैं जो उरवसीयम में आज भी अपने उसी शरारती तर्क के आधार पर फूट पैदा करने के प्रयास में संलग्न हैं, जबकि उनका दावा है कि वह उवरसीयम के विभिन्न कबीलों में एकरूपता स्थापित करने के प्रयत्न से अपना जीवन दान कर बैठे हैं। केरल प्रान्त की पिछड़ी जातियों में अंग्रेज़ या यूरोपीय मिशनरी उन्नीसवीं शताब्दी में इसी उद्देश्य से घुसे थे, उन्होंने फैलते उपनिवेशवाद की शक्तियों को कैसे सहायता पहुँचाई इसका भी इतिहास दिलचस्प है।

कहने का सारांश यह है कि उन्नीसवीं सदी की इस यूरोपीय मनोदशा के फलस्वरूप काली जातियों को जो व्यंग और अपमान सहना पड़ा है उसी का एक रूप भारत भी है। मैं समझता हूँ कि भारत के इतिहास को इन काली जातियों के इतिहास से जोड़ कर देखने से बहुत सी विरोधी स्थितियों की व्याख्या अपने आप हो जायगी। १८३३ से १८५७ तक के अन्तराल में अंग्रेज़ों को यह आभास मिल गया था कि उनके अधिकृत इलाक़े सिलसिलेवार एक कड़ी के रूप में नहीं हैं। उनको अपने अधिकृत इलाक़ों को एक सूत्र में बाँधना ज़रूरी था। उत्तराधिकार के क़ानून तथा अन्य फ़ौजी दस्तन्दाज़ियों के माध्यम से वे अंग्रेज़ी राज्य के चितकबरे रंग को एक रंग में बाँधना चाहते थे। जैसे क़ानून के स्तर पर उन्होंने एकरूपता का दावा किया था, उसी प्रकार राज्य की भौगोलिक सीमाओं के स्तर पर भी वे उसी एकरूपता को स्थापित

करना चाहते थे और अपने पूरे क्षेत्र को राजनीतिक स्तर पर एक सूत्र में बाँध कर उसे दृढ़ता देने को कोशिश करना चाहते थे। हम स्पष्ट देख सकते हैं कि यूरोपीय बाज़ार की स्थापना के साथ यूरोपीय जातियाँ और सारे संसार को एकरूपता में नियोजित करने के प्रयास में संलग्न थीं। वही एकरूपता का अधिक भयंकर रूप हमें १८५७ के पूर्व के भारत में मिलता है। अंग्रेज़ों के बाज़ार और शासन के नियोजन के लिए यह आवश्यक था।

प्लासी की लड़ाई के ठीक सौ वर्ष बाद सन् १८५७ का विद्रोह एक सार्थक और महत्त्वपूर्ण घटना थी। इन सौ वर्षों में वैचारिक और सांस्कृतिक स्तर पर भारत की वह समग्रता दृष्टि बार-बार टूटी है और समग्रता और विविधता में जो विवेक दृष्टि हमें अपने संस्कार से मिली थी वह खण्डित हुई है। भारत में पाश्चात्य विचारों का प्रसार ज्ञानार्जन की दृष्टि से कम, भारतीयों में हीन भावना उत्पन्न करने के लिए अधिक प्रयुक्त हुआ। कम्पनी के शासकों ने भारत को एक सूत्र और एक रूप देने के बारे में जिस दृढ़ता का पालन किया उसमें बड़े ही गन्दे तरीक़े से भारत के नव शिक्षित वर्ग के दिमाग़ में यह भरा गया कि भारतीय अर्द्ध विकसित, रूढ़िवादी और असभ्य हैं। जितने भी सुधार कार्य कम्पनी के शासकों ने किये, उसमें हमें यह स्पष्ट दिखेगा कि हमारी सांस्कृतिक चेतना को खोखली और पुराण पंथी ढकोसले के रूप में प्रस्तुत करके उनको हीन बता कर ही किया गया। यह सही है कि इस प्रयास में सती प्रथा पर रोक जैसे कुछ काम भी हो गये, किन्तु सौ साल की अवधि में ईसाई पादरियों और अंग्रेज़ शिक्षकों ने केवल भेद की और कृत्रिमता की ही बात उठाई। आज भी हमारे देश में कुछ झूठे प्रकार के कृत्रिम इतिहासकार, जिसमें मैं श्री के० एम० पन्निकर महोदय का नाम विशेष रूप से लूँगा, मौजूद हैं जो लार्ड मैकाले द्वारा नियोजित शिक्षा को भारत का हितैषी मानते हैं, लेकिन आज तो इसके ऐतिहासिक प्रमाण मौजूद हैं कि अंग्रेज़ी शिक्षा पद्धति ने जिस एक बात पर विशेष बल इन सौ वर्षों में दिया वह भारतीय धर्म पद्धति और संस्कार में निहित अनेकता और विविधता के दोष से ही लबरेज़ है। इसका ज्वलंत उदाहरण हमें कलकत्ता हिन्दू कालेज के विद्यार्थियों में मिलेगा। १८३५-३६ के लगभग ईसाई पादरियों ने कालेज के विद्यार्थियों के माध्यम से एक प्रकार का आन्दोलन ही चला दिया, जिसका एक मात्र उद्देश्य था भारतीय रूढ़ियों और कट्टरवादिता के प्रति विद्रोह। यदि देखा जाय तो इन पादरियों का मुख्य उद्देश्य इन अन्ध विश्वासों और रूढ़ियों को समाप्त करना नहीं था वरन् भारतीय मानस में बड़े मार्मिक ढंग से यह प्रतिष्ठित करना था कि दर्शन और सांस्कृतिक स्तर पर उनके पास कुछ नहीं है। कलकत्ता के हिन्दू कालेज के विद्यार्थियों का यह आन्दोलन पूरे बंगाल में एक आतंक के रूप में विकसित हो गया जिसके परिणाम-स्वरूप आगे चल कर हमें यह भी प्रमाण मिलेगा कि लार्ड सिनहा जैसे लोग भी पैदा हुए जिन्होंने अपने को भारतीय नागरिक कहने में भी अपमान का अनुभव किया और भारत को नितान्त पिछड़ा हुआ मान कर इंग्लैण्ड की नागरिकता ले ली। हिन्दू मुसलमान का तनाव पक्का करने में इन पादरियों के निर्देशन में यह आन्दोलन सहायता हुआ। हिन्दू कालेज के बहुत से विद्यार्थियों ने तो सड़क पर चिल्ला-चिल्ला कर यह नारा लगाया कि—'हमने मुसलमानों के घर की रोटियाँ खाई हैं।' देखने की बात यह है कि इस आन्दोलन में यह स्वर नहीं था

कि मुसलमान के साथ समान व्यवहार करो। वरन् पादरियों ने जो नारा दिया था वह यह कि इससे हिन्दू के मन में जो साम्प्रदायिकता है वह जागे। इसके पीछे उन्होंने सैकड़ों और हज़ारों हिन्दुओं को ईसाई धर्म में परिवर्तित भी कर लिया, किन्तु सबसे बड़ी शैतानी इस आन्दोलन की यह थी कि इसने एक ओर हिन्दुओं में आत्महीनता पैदा की और दूसरी ओर उसके भीतर छिपी साम्प्रदायिकता को जगाया। एक प्रकार की नास्तिकता और आचरणहीनता को प्रोत्साहित किया। प्रतिक्रिया स्वरूप रूढ़वादियों और कट्टर पंथियों को 'धर्म सभा' जैसी संस्था के रूप में संगठित करने का अवसर दिया। एक ओर तो साम्प्रदायिकता को इन्होंने बढ़ाया, भेद को इन्होंने आँख में उँगली डाल कर दिखाया और दूसरी ओर अपने को उदार घोषित करने के लिए अपने आपको 'एकरूपता' का प्रवर्तक बताया और दूसरी ओर धर्मसभा जैसी प्रतिक्रियाशील संस्थाओं को जन्म दिया, ताकि उनकी सापेक्षता में वे देश के ज़्यादा हितैषी सिद्ध हो सकें।

भारतीय पुनगर्जागरण का कोई भी इतिहास या उसकी कोई भी व्याख्या बिना इन स्थितियों के विवेचन के संभव नहीं है। अंग्रेज़ों ने इन सौ वर्षों में केवल एक काम किया और वह यह कि भारत की कृषिप्रधान सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक और न्याय की संस्थाओं को एक एक करके तोड़ा और खण्डित किया है। भारत में कभी भी इंग्लैण्ड की सामन्तवादी व्यवस्था के समान बड़े बड़े ज़मीदार नहीं थे। यहीं नहीं भारत में ज़मीन का और राज्य का वह सम्बन्ध नहीं था जो लार्ड कार्नवालिस ने अपने इस्तमरारी बन्दोबस्त द्वारा स्थापित किया था। गाँवों में जो हस्तकला और कुटीर उद्योग थे उनको भी अंग्रेज़ों ने अपने बाज़ार के मोह में तहस-नहस कर डाला। ग़ैर फ़ौजी और फौजी करों और लगानों के रूप को भी बदला। राज्य सत्ता के स्तर पर देशी राजाओं को इस बात के लिए बाध्य किया कि वह अंग्रेज़ी सेना का संरक्षण स्वीकार करके उन्हें फ़ौजी कर दें। यही नहीं पोलिटिकल एजेन्टस के माध्यम से भारत की कमज़ोर और मध्यकालीन राज्य व्यवस्था को खण्डित किया। गाँवों में स्वतंत्र पंचायतों को तोड़ कर एक क़ानून द्वारा सभी जनता को बाध्य किया कि वह अंग्रेज़ी न्यायालय के अधीन हो। शिक्षा के स्तर पर सब से पहला आघात संस्कृत शिक्षा को तोड़ने और फ़ारसी शिक्षा को प्रश्रय देने की नीति से लगा। पुराने मध्यवर्ग को क्षत-विक्षत करके जागीरें, नौकरी और अन्य सुविधाएँ देकर एक नया मध्यम वर्ग तैयार किया गया जो उस शासन व्यवस्था का समर्थन हुआ। सेठ अमीचन्द, मीरजाफ़र या इस प्रकार के अन्य व्यक्ति उसी नये मध्यवर्ग के प्रतिनिधि थे जो नन्दकुमार जैसे हज़ारों व्यक्तियों को फाँसी दिलाने के यंत्र बने। यही नहीं, अंग्रेज़ों ने जो अपना समर्थक वर्ग इस सौ वर्ष में पैदा किया उसे सांस्कृतिक स्तर पर भी भ्रष्ट किया। अंग्रेज़ पादरियों ने जो काली जातियों को सभ्य बनाने के मिशन से भारत में आये थे मिशन स्कूलों के माध्यम से इन सौ वर्षों में पूरे देश में ऐसे लोगों की जमात ही खड़ी कर दी जिन्होंने अपनी देशी भाषा, देशी संस्कृत, देशी धर्म और देशी कर्म-काण्ड का मज़ाक़ उड़ाना शुरू कर दिया। बड़े-बड़े नगरों की स्थापना और प्रत्येक नगर में गोरे और काले लोगों की अलग-अलग वस्तियाँ बना कर इन्होंने इस सांस्कृतिक और मानसिक स्तर पर खोखले, सुविधा पसंद और कायर बौद्धिकों की ऐसी सेना ही बना डाली जो आस्थाहीनता, आत्महीनता और व्यक्तित्वहीनता का

शिकार होकर पूरे देश में अपनी संस्कृति और विवेक के प्रति अनास्था ही फैलाते रहे। बंगाल का बाबू (शब्द की उत्पत्ति है बू वाला) वर्ग ही ऐसा बना जो इस अपमानजनक स्थिति को ही गौरवशाली समझने लगा। इससे भी अधिक ख़तरनाक बात यह थी कि देश में देशी और विदेशी नाम के दो बर्ग पैदा हो गये। और वह वर्ग जो विदेशी समर्थक था उसको स्वयं अंग्रेज़ आधुनिक कहने लगे और जो देशी का समर्थक था उसे रूढ़िग्रस्त और दकियानूसी कहने लगे। यही अंग्रेज़ों की नीति थी जिसके माध्यम से वे पूरे देश में आत्महीनता का भाव फैलाना चाहते थे। यह आत्महीनता की भावना एक प्रकार की राष्ट्रीय चेतना को जगाने में भी समर्थ हो रही थी। उसने भारतीय स्वाभिमान को इस बात के लिए बाध्य किया कि वह इस कृत्रिम बाह्य एकरूपता की अपेक्षा अपनी और निजी एकरूपता को पहचानने की चेष्टा करे। इस चेष्टा के चार चरण हमें स्पष्ट दीखते हैं (१) १८५७ के ग़दर के पूर्व का चरण; (२) १८५७ के ग़दर के काल का चरण; (३) १८५७ के ग़दर के बाद का चरण; (४) बीसवीं शती के पूर्वार्ध का चरण।

१.१८५७ के ग़दर के पूर्व के चरण में दो प्रवृत्तियाँ विशेष रूप से देखी जा सकती हैं। एक तो वह जो आधुनिकता को राष्ट्रीय संदर्भ में और एकरूपता को अपने सांस्कृतिक संदर्भ में देखने की चेष्टा करती थी और खुले शब्दों में पाश्चात्य प्रभाव को आधुनिकता और आरोपित एकरूपता का विरोध करके राष्ट्रीय संदर्भ को प्रस्तुत करना चाहती थी। इस प्रवृत्ति का प्रतिनिधित्व आर्य समाज ने किया जिसकी चेष्टा भारतीय संस्कृति के स्रोतों से भारत को आधुनिक बनाना था। दूसरी प्रवृत्ति ऐसे लोगों की थी जो पाश्चात्य प्रारूप में भारतीय चेतना और संस्कृति को आरोपित करके विविधता में एकरूपता स्थापित करता चाहते थे। इस प्रवृत्ति को हम राजा राममोहन राय के ब्रह्म समाज में देख सकते हैं। उसका सारा ज़ोर इस बात पर था कि हम पाश्चात्य की प्रतिद्वंद्विता में जल्द से जल्द आधुनिक मालूम हों और वह सारे आकारात्मक चिह्न हमारे संस्कार में आ जायँ जो पश्चिम को गतिशील बनाते और समृद्धि प्रदान करते हैं।

इन दोनों प्रवृत्तियों को वर्तमान अंग्रेज़ी शासन सत्ता भलीभाँति पहचानती थी। जहाँ तहाँ इसीलिए आर्यसमाज को प्रतिक्रियावादी शक्ति के रूप में और ब्रह्मसमाज को प्रगतिशील तत्त्व के रूप में प्रतिष्ठित किया गया। आर्य समाज संस्कृत के अध्ययन और विवेकपूर्ण ढंग से हिन्दी और भारतीयता का समर्थक था। आर्य समाज ने मैकाले की शिक्षा के विरुद्ध गुरुकुल की स्थापना और अंग्रेज़ पादरियों के मिशन स्कूलों की कृत्रिम शिक्षा के विरुद्ध जो स्कूलों को स्थापना की वह मूलतः लार्ड मेकाले के पूरे षड्यंत्रों के विरुद्ध एक बहुत बड़ा क़दम था। आर्य समाज ने सर्व प्रथम अंग्रेज़ीकरण का विरोध किया और शिक्षा और संस्कार के स्तर पर उसने एक भारतीय चिन्तन-प्रधान जीवन पद्धत्ति देने की कोशिश की।

ब्रह्मसमाज राष्ट्रीय होते हुये भी कम्पनी के शासन को महायता से और पाश्चात्य विचारों के माध्यम से भारत को जल्द से जल्द आधुनिक बनाने में प्रयत्नशील था। १८३५ में कम्पनी सरकार ने यह घोषणा की कि "द ग्रेट आबजेक्ट ऑव द ब्रिटिश गर्वमेन्ट ऑट टू बी दि प्रमोशन ऑव यूरीयीयन लिट्रेचर एण्ड साईन्स एमग दि नेटिवस् ऑव इण्डिया'

लार्डमैकाले ने कहा—"मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि यदि मेरी चलाई हुई शिक्षा पद्धत्ति भारत में तीस वर्ष भी चल गई तो तीस वर्ष बाद एक भी मूर्तिपूजक इस देश में नहीं रह जायगा और यह प्रक्रिया बिना धार्मिक स्वतंत्रता में हस्तक्षेप किये केवल पाश्चात्य ज्ञान विज्ञान के प्रचार से ही हो जायगी।" इसाई पादरी भी इसी काम में संलग्न थे। उनका कहना था कि यदि मिशनरी स्कूलों की शिक्षा सफलतापूर्वक चलती रही तो बहुत थोड़े समय में भारत का मध्यवर्ग ईसाई धर्म अपना लेगा और पूरे समाज में अधिक से अधिक एकरूपता आ जायगी। इन दोनों वक्तव्यों के संदर्भ में ब्रह्मसमाज का विरोध तो दीखता है, लेकिन इस प्रारूप के अनुसार एक प्रकार की समन्वयवादी दृष्टि के माध्यम से इसने पूरे देश के दिमाग़ को ढालने का प्रयास किया। पूरा ब्रह्मसमाज इन दोनों कथनों की आत्मा को स्वीकार करके इन्हीं आधारों पर भारत को आधुनिक बनाने में संलग्न रहा। इसीलिए बाइबिल के तर्ज़ पर उन्हों ने उपनिषदों को अपनाया और सर्वधर्म समन्वय के आधार पर समग्रता की दृष्टि को छोड़ कर विविधता में एकता ढूँढ़ने की कोशिश की।

भारत को आधुनिक बनाने की ये दृष्टियाँ हमें एक दूसरे के विरोध में विकसित हुई दीखती हैं। पहली दृष्टि आर्यसमाज की है जो राष्ट्रीय संस्कारों और संस्थाओं का पुनर्गठन करके आधुनिक समसामयिक समस्याओं का स्वजातीय रूप में निराकरण चाहती थी। इसका विरोध आधुनिकता से नहीं था। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने कहीं भी आधुनिकता का विरोध नहीं किया है। जड़वर्णाश्रम धर्म का खण्डन उन्होंने भी दिया, सती प्रथा का विरोध, नारी स्वतंत्रता की माँग, रूढ़ियों का खण्डन उन्होंने भी किया है और इसी प्रक्रिया में वैदिक संस्कृति के संरक्षण में पादरियों द्वारा प्रचारित हिन्दू धर्म के विरुद्ध तर्कों का भी जवाब दिया। अंग्रेज़ी शिक्षा के ज्ञान का विरोध उन्होंने नहीं किया, लेकिन उन्होंने अंग्रेज़ी को संस्कृत, हिन्दी और भारतीयता के अधीन रखना अधिक श्रेयस्कर समझा। मुझे लगता है कि यह दृष्टि आधुनिकता की सही दृष्टि थी। यह बात और है कि स्वामी दयानन्द सरस्वती के बाद कोई ऐसा व्यक्ति उस संस्था में नहीं आया जो उस राष्ट्रीय दृष्टि को विकसित करता और अंग्रेज़ी सत्ता का सामना करता। परिणामस्वरूप वह संस्था केवल बाईबिल और क़ुरान के खण्डन में लग गई। उसने उस मूल राष्ट्रीय चेतना का सूत्र नहीं विकसित किया जिसमें लार्ड मैकाले का खण्डन था और उसके विरोध में भारतीय शिक्षा, संस्कार और धर्म का सुथरा रूप था। इस अर्थ में आर्यसमाज की राष्ट्रीयता अधिक उग्र थी।

ब्रह्मसमाज और राजा राममोहन राय इस आधुनिकता को स्वीकार करने में असमर्थ थे। वह जिस आधुनिकता के क़ायल थे वह पाश्चात्य चिन्तन से अनुप्राणित थी। यद्यपि राजा राममोहन राय ने ईसाई मत को ग्रहण नहीं दिया फिर भी उन्होंने अपने उपनिषद् दर्शन और वेदान्त को उन यूरोपीय विचारों के माध्यम से देखने की चेष्टा की जो उस समय के यूरोप में गतिमान थे। बेन्थम और अन्य उपयोगितावादी दार्शनियों के उदारवाद से राजा राममोहन राय अनुप्रणित थे। यह उदारवादी नीति ही वह मूल स्रोत है जहाँ से बाद में ऐसे बौद्धिक पैदा हुये जो भारतीय स्वतंत्रता और राष्ट्रीयता के बिना अंग्रेज़ियत को अर्थहीन समझते थे। कालान्तर में केशवचन्द्र सेन के समय तक आते आते यह वर्ग अंग्रेज़ी शासन का समर्थक हो

गया और अंग्रेज़ी शिक्षा पद्धत्ति और अंग्रेज़ियत का पुजारी भी हो गया। इसको सरकारी प्रश्रय और संरक्षण तो मिला ही साथ में इसे निहित स्वार्थों वाला एक समुदाय भी मिला जो जल्दी से जल्दी ब्रह्मसमाज के माध्यम से शासक वर्ग की निकटता प्राप्त कर सकता था और उसका कृपा पात्र बन सकता था।

२. भारतीय पुनर्जागरणों का दूसका चरण १८५७ के स्वतंत्रता संग्राम के रूप में व्यक्त हुआ। जैसा ऊपर कहा जा चुका है, विलियम बेंटिग ने जहाँ एक-एक करके देश की सामाजिक, आर्थिक, और सांस्कृतिक संस्थाओं को तोड़ा, गाँवों के स्वतंत्र अस्तित्व को ज़बर्दस्ती एकरूपता देने की दृष्टि से विदेशी न्यायालय के अधीन करके एक नौकरशाही द्वारा आतंक फैलाया, वहीं लार्ड डलहौज़ी ने राजनीतिक संगठन के खण्डन और देशी संस्थओं को तोड़ने के साथ देशी राज्यों को हड़पने की साजिश शुरू की। यह एक ज़बर्दस्त चोट भारत की राष्ट्रीयता पर थी और इससे सन्देह नहीं कि पहली बार इन राज्य के शासकों और जनता का किसी क़दर एक गुट बना। प्रायः हमारे देश के बौद्धिकों ने इस क्रान्ति को केवल सिपाहियों का ग़दर कहा है, भारत सरकार द्वारा आयोजित मजूमदार के इतिहास में यह लिखा गया है कि १८५७ का स्वतंत्रता संग्राम निहित स्वार्थ वाले पदलोलुप राजाओं और सामन्तों का विद्रोह था, सिपाहियों का विद्रोह था, इसे स्वतंत्रता संग्राम या स्वतंत्रता के लिए जाग्रत जन विद्रोह नहीं कहना चाहिए। इतिहास के प्रति यह अन्याय काँग्रेस सरकार कर सकती है जो इस इतिहास के लिए पूरे देश में व्याप्त खण्डहरों, लोक कथाओं और लोक मानस का विवेचन कराने के बजाय अंग्रेज़ जेनरलों की डायरी, ब्रिटिश म्यूज़ियम में सुरक्षित दस्तावेज़ों और सुरक्षा विभाग में मौजूद अंग्रेज़ों द्वारा हस्तान्तरित पत्रों को ही आधार मान कर इस प्रकार के ग्रन्थ लिखाने में प्रवृत्त हुई है। के० एम० पन्निकर, मजूमदार और इसी प्रकार के अन्य इतिहासकारों की पौध पुनः उसी यूरोपियन ज़हनियत का नतीजा है जिसका अभिशाप हमें आज भी भोगना पड़ रहा है। इन निकम्में इतिकारों ने जैसे उस व्यापक विघटन की ओर ध्यान ही नहीं दिया जो पूरे देश के संगठनों में विभिन्न सामाजिक, सांस्कृतित और आर्थिक संस्थाओं के उजड़ जाने से पैदा हुआ। ढाका और मुर्शिदाबाद के जुलाहे, बिहार और आसाम के बुनकारों, लखनऊ, दिल्ली और आगरा के कारीगरों की दशा, उनकी आर्थिक स्थिति पर हमारे अवसरवादी बौद्धिकों ने ध्यान ही नहीं दिया। ग्राम पंचायतों और ग्राम संस्थाओं के हज़ारों वर्ष पुराने रूप को अंग्रेज़ों ने कितनी निर्ममता से तोड़ा, इसका भी जायज़ा हमारे इतिहासकारों और बौद्धिकों ने नहीं लिया। १८५० में लार्ड डलहौज़ी ने ईसाई धर्म के समर्थन में गावों के संयुक्त परिवार के नैतिक और धार्मिक संगठन पर चोट की। धर्म परिवर्तन के बाद भी उत्तराधिकारी बने रहने की माँग को उन्होंने राज्योचित बनाने के लिए क़ानून बना दिया। उत्तराधिकार के नियम के आधार पर राज्यों को हड़पने के लालच के साथ-साथ उस जीवन पद्धत्ति पर भी चोट थी जो संयुक्त परिवार से सम्बद्ध थी। इतिहासकारों ने हड़पे हुये राज्यों की विपन्न व्यवस्था और अंग्रेज़ों के आतंक का भी उल्लेख नहीं किया है। बिकी हुई या गिरवी बुद्धि से उन्होंने इस पूरे विद्रोह को बिना राष्ट्रीय संदर्भ से जोड़े केवल सिपाहियों का विद्रोह, सूअर और गाय की चरबी को लेकर किया गया विद्रोह घोषित कर दिया है।

वस्तुतः यह भारतीय पुनर्जागरण का दूसरा चरण था जिसमें कि गत सौ वर्ष का संचित आक्रोश धीरे-धीरे सुलगते सुलगते सशस्त्र क्रान्ति के रूप में जागा था। इस विद्रोह का मुख्य उद्देश्य भारतीय जीवन पद्धत्ति की सुरक्षा था। राष्ट्रीय संस्थाओं की सुरक्षा था और यदि और गहरे उतर कर देखा जाय तो आश्रम संस्कृति और औद्योगिक संस्कृति का युद्ध था। नक़ली भारतीयता और उग्र राष्ट्रीयता का युद्ध था। इसका प्रमाण हमें इससे मिलेगा कि इस समस्त क्रान्ति के बाद जब अंग्रेज़ दमन में सफल हुये तो उन्होने विद्रोहियों की सम्पत्तियाँ छीन-छीन कर कैसे लोगों को दी, उन नये जागीरदारों का दिमाग़ी और सांस्कृतिक रुझान क्या था? उत्तर प्रदेश के तराई के इलाक़ों में क्यों अग्रेज़ जागीरदारों की संख्या ज़्यादा रखी गई। भटिहनवाँ की जागीर या बर्डपुर स्टेट की जागीर या बिहार के जागीरदारों में भारतीय जागीरदारों के बीच अग्रेज़ जागीरदारों की नसलें क्यों पैदा की गई और जो इलाक़ा सबसे अधिक विद्रोही था उसके पुनर्संगठन में कौन-कौन से वे भारतीय थे जो प्रतिष्ठित हुये। ग़ैर से देखने पर पता चलेगा कि इन में सबसे अधिक संख्या उन लोगों की थी जो अंग्रेज़ी मिशन स्कूलों में शिक्षित थे या जो दिमागी तौर पर गत सौ वर्षों में अंग्रेज़ों को अपना मालिक, सरपरस्त या उद्धारकर्त्ता मान चुके थे। इस बौद्धिकता में राष्ट्रीय स्तर के ज्ञान से घृणा और हमारी सामाजिक रूढ़ियों के प्रति जुगुप्सा गत सौ वर्षों में अंग्रेज़ों ने प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से पैदा की थी। यही कारण है कि १८५७ की जनक्रान्ति में सैनिक और गाँव के लोग शामिल थे। यहाँ के राजा महाराजा शामिल थे, लेकिन समाज का मध्यम वर्ग और बौद्धिक वर्ग इसमें सम्मिलित नहीं थे।

१८५७ का विद्रोह असफल रहा या सफल, उतना महत्त्वपूर्ण नहीं है जितना कि यह कि वह कौन से तत्त्व थे जिन्होंने १८५७ के विद्रोह को जन्म दिया था। यह दो जीवन पद्धत्तियों की टकराहट थी जिसमें अंग्रेज़ अपनी सैन्य शक्ति और सक्षम कूटनीति के माध्यम से भारत को एकरूपता दे कर उससे उसकी विविधता छीनना चाहते थे। दूसरे शब्दों में विचारों और संस्कारों में जो विस्तार भारतीय जीवन पद्धति का अंग बन चुका था उसे कृत्रिम माध्यमों से काट-छाँट कर सीमित कर देना चाहते थे। मैकाले या राजा राममोहन राय के प्रयास इसी एकरूपता की खोज में वेदान्त की ओर और उपनिषदों की ओर झुके थे। वह यह भूल गये थे कि भारत की सांस्कृतिक एकता आकारात्मक गठन या आकारात्मक विघटन की प्रतीक नहीं थी। वह उसकी आश्रम संस्कृतिक से उपजी हुई जीवन दृष्टि थी जिसे केवल सती प्रथा, मूर्ति पूजा, या कीर्तन मण्डली तक सीमित करने तेखना ग़लत और असंगत था।

३. लेकिन यह सत्य है कि १८५७ के विद्रोह ने भारतीय जन मानस का मनोबल तोड़ दिया था। आर्य समाज जैसी राष्ट्रीय संस्था जो विवेकपूर्ण भारतीय जीवन दर्शन की खोज कर रही थी इसी मनोबल की हीनता के कारण व्यापक बौद्धिक जीवन दर्शन की अपेक्षा केवल इस्लाम और क्रिश्चियन धर्म संस्थाओं के छिद्रान्वेषण में लग गई। ब्राह्मसमाज जो आधुनिकता का सैद्धान्तिक दर्शन उपनियदों के सूक्ष्म तत्त्ववाद और एक प्रकार की आकारात्मक एकरूपता के लिए आध्यात्मिक सूक्ष्मवाद की ओर बढ़ रहा था, नितान्त बौद्धिक हीनता का परिचय देने लगा। प्रार्थना समाज ने उसी हीनग्रन्थि और एकरूपना के मोह में सिवा हिन्दू

धर्म के छिद्रान्वेषण और क्रिनियन धर्म और पाश्यात्य जीवन पद्धत्ति की सराहना के और कुछ किया ही नहीं। १९५७ के बाद भारत का मध्यवर्ग तो बिल्कुल अंग्रेज़ों के सम्मुख आत्म-समर्पण कर बैठा। उसे यह विश्वास ही गया कि निकट भविष्य में वह कभी किसी भी हालत में अंग्रेजों से मुक्ति नहीं पा सकता। साथ ही १८५७ के बाद महारानी विक्टोरिया की घोषणा में जिस प्रकार नौकरियों आदि का आश्वासन दिया गया उससे संत्रस्त मध्यवर्ग का अपना बना लिया। यही कारण है कि केशवचन्द्र सेन जैसे व्यक्तित्व ने एक ऐसे समाज को जन्म दिया जिसने उदारता के नाम पर बिल्कुल पश्चिमी हो जाना ही जीवन की सब से बड़ी उपलब्धि मान ली। उनको तो भारतीय और हिन्दू कहलाने में भी अपमान का बोध होने लगा।

मैकाले की शिक्षा पद्धति, और १८५७ में स्वतन्त्र राज्यों के विघटन और उनके स्थान पर एक चाटुकार समाज के संगठन ने एक ज़बर्दस्त आत्महीनता आन्दोलन ही का चलाया जिसमें आधुनिकता को पश्चिम के अनुकरण का पर्याय मान लिया गया। इस वर्ग की सफलता का मुख्य कारण यह था कि इसने अंग्रेज़ी नीति, उसकी पद्धति का समर्थन तो किया, साथ ही चेष्टा इस बात की कि वह समूची भारतीय चिन्तन धारा को केवल झूठा, अधूरा और घृणास्पद सिद्ध करे। जो भारतीय जीवन पद्धति की समग्रता का द्योतक था वही उन्हें भारतीय चिन्तन का बेढंगापन लगने लगा। एकरूपता के मोह में यह वर्ग केवल अंग्रेज़ी भाषा का समर्थन, अंग्रेज़ी वेष-भूषा का पुजारी और अंग्रेज़ी समाज के आचरण की नक़ल में डूब गया। लिब्रल आन्दोलन के नाम पर जो आन्दोलन सरकार की संरक्षता में चला उसका उद्देश्य हो था पूरे देश को अंग्रेज़ बना देना। यह केवल सुविधा भोगने वाला वर्ग था और सुविधा को ही आज़ादी भी समझता था। यह वर्ग राष्ट्रीय होने की अपेक्षा अन्तर्राष्ट्रीय होने में दिलचस्पी रखता था। यद्यपि प्रार्थना समाज के बाद के नेताओं में से गोविन्द रानाडे ने भारतीय समाज की सापेक्षता में अतीत और परम्परा का भो समर्थन किया था, लेकिन वह समर्थन केवल मूल तथ्यों पर आवरण ढकना था।

समाज का वह वर्ग जो पाश्चात्य चिन्तन और विचार के आतंक में घोर विश्वास रखता था और जिसने यह मानलिया था कि अंग्रेज़ों के माध्यम से ही देश का उद्धार होगा, वह धीरे-धीरे ज़ोर पकड़ते लगा। उसके निहित स्वार्थ एक दूसरे स्तर पर बनने लगे। १८५७ के विद्रोह में जो राष्ट्रीय भावना अपनी सम्पूर्ण शक्ति से उभरने नहीं पाई थी उसे कुंठित करने के लिए अंग्रेज़ी शासन ने इस अन्धे आधुनिक वर्ग का हथियार की तरह इस्तेमाल करने लगा। प्रत्येक राष्ट्रीय विचार को देहाती और सांस्कृतिक परम्परा को प्रतिक्रियावादी घोषित कराने के लिए अब अंग्रेज़ को कुछ नहीं करना पड़ता था। उसने आई० सी० एस० की नौकरियों में भारतीयों के प्रतिनिधित्व, बड़ी नौकरियों में अंग्रेज़ों के समान भारतीयों को भी ठाठ-बाट मिलने की लड़ाई इस वर्ग से छिड़वा कर पूरे देश का ध्यान सुविधाओं की ओर दिलाना चाहा। आज़ादी, राष्ट्रीयता और संस्कृति की समस्याएँ इसने पीछे छोड़ दी। दूसरी दृष्टि से यदि देखें तो कह सकते हैं कि १८३४ से १९०० के बीच जा शिक्षित वर्ग मैकाले की शिक्षा पद्धति के अनुसार देश में पनपा वह अमर बेल की तरह जड़हीन और आधार होन वर्ग था। भारतीय जन मानस का वह प्रतिनिधि नहीं था। उसके लिए आधुनिकता सर्वाधिक मूल्यवान वस्तु थी

और वह यह मानता था कि जिस आधुनिकता की उसे आवश्यकता है वह केवल अंग्रेज़ी शासन के समर्थन से आ सकती है।

४. प्रास्तुत संदर्भ में उन्नीसवीं शताब्दी के बौद्धिक वर्ग का विश्लेषण करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि हमारे देश में दो प्रकार का बौद्धिक वर्ग था। एक विशुद्ध राष्ट्रीय वर्ग और दूसरा अंग्रेज़परस्त आधुनिक वर्ग ; राष्ट्रीय वर्ग वह था जो अपने देश के वातावरण, उसके संस्कार और विकास को, अपनी सांस्कृतिक संस्थाओं, संगठनों और उनके प्रारूपों में खोजता था अथवा उन्हें पुनः प्रतिष्ठित करके एक स्वाभिमानी स्वतन्त्र राष्ट्र की कल्पना करता था। दूसरा वर्ग वह शिक्षित वर्ग था जो अंग्रेज़ी शासन को इतिहास का एक वरदान मानता था कि पूरा देश यदि किसी भी प्रकार आधुनिक हो सकता है तो वह अंग्रेज़ी शासकों के माध्यम से ही संभव हो सकता है। जो राष्ट्रीय चेतना से उद्भूत वर्ग था वह बार-बार देश की सांस्कृतिक संस्थाओं को उनके मूल रूप में प्रतिष्ठित करना चाहता था। जो टूट-फूट गई थीं या जो कालांतर में अव्यवस्थित हो गई थीं, वह उनका जीर्णोद्धार करके या उनको पुनः प्रतिष्ठित करके एक प्रकार का राष्ट्रीय चरित्र विकसित करना चाहता था। स्वामी दयानन्द सरस्वती, स्वामी रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानन्द आदि ने सम्पूर्ण भारतीय जीवन दर्शन को उसके पूर्णत्व के साथ विकसित करके उसकी समग्रता की दृष्टि और विविधता के महत्त्व को राष्ट्रीय चरित्र के साथ जोड़ कर रखना चाहा। यही नहीं स्वामी विवेकानन्द ने तो पश्चिम को और अमरीका को भारतीय जीवन दर्शन की ओर आकर्षित किया और संपूर्ण भारतीय जीवन पद्धत्ति के अनुसार सामाजिक तत्त्वों का मूल्यांकन भी करना चाहा। एक जगह तो विवेकानन्द ने यहाँ तक कह डाला—"मैं समाजवादी हूँ इसलिए नहीं कि मैं उसे पूर्ण व्यवस्था समझता हूँ, बल्कि इसलिए कि आधी रोटी बेहतर है। बिल्कुल रोटी न मिलने से"—विवेकानन्द के इस कथन में उस युग की दोनों चेतनाएँ बोल रही हैं, एक ओर रूढ़िगत परम्पराओं से अर्ध विक्षिप्त देश की राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक स्थितियाँ और दूसरी ओर वह विवेकशील संतुलित आकांक्षा जिसके अन्तर्गत भारत की बौद्धिक जिज्ञासा संसार की आधुनिकता के साथ अपने को सम्बद्ध करना चाहती थी। इन दोनों के बीच उन्नीसवीं शताब्दो में बौद्धिक वर्ग जिस संशय में पड़ा था उसकी सही-सही झलक मिल जाती है। स्वामी विवेकानन्द जहाँ एक ओर अपनी भारतीय चिन्तनधारा के संरक्षक थे वहीं वह उस आधुनिक ज्ञान विज्ञान के उपकरणों के महत्त्व को भी समझ रहे थे जिसके अन्तर्गत दुनियाँ का एक बहुत बड़ा हिस्सा तेज़ी से बढ़ रहा था।

यदि हम उस समय की मानसिक स्थिति का विश्लेषण करें तो हमें स्पष्ट लगेगा कि उन्नसवीं शताब्दी में भारत का बौद्धिक वर्ग दो अलग-अलग हिस्सों में बँटा था और दोनों ही पश्चिम के आधुनिकीकरण को सापेक्षता में भारत को नये संदर्भ से सम्पृक्त कराने का इच्छुक था। इसमें से पहला वर्ग वह था तो राजा रायमोहन राय के नेतृत्व में भारत के आधुनिकीकरण के लिए अंग्रेज़ी शासन, अंग्रेज़ी शिक्षा-दीक्षा और अंग्रेज़ी वातावरण को आवश्यक मानता था और इंग्लैंड के उपयोगितावादी दार्शनिकों से अत्याधिक प्रभावित था। इस वर्ग के प्रतिनिधि चिन्तकों में से राजा राममोहन राय, केशवचन्द्र सेन, देवेन्द्रनाथ टैगोर, लार्ड सिन्हा, फ़िरोज़शाह

मेहता, दादा भाई नौरोजी आदि थे। इन्हीं की परम्परा आगे चल कर गोपालकृष्ण गोखले जैसे व्यक्तित्व का निर्माण कर सकी, जिन्हें हम पूर्ण रूप से भारतीय और राष्ट्रीय चेतना से सम्पन्न मानते हुए भी एक सीमा के बाद रुका और ठहरा हुआ पाते हैं।

दूसरा वर्ग हमें दयानन्द सरस्वती, विवेकानन्द आदि की परम्परा के साथ मिलता है जो सारी आधुनिक प्रगति को राष्ट्रीय संस्कार और परम्परा के साथ सम्बद्ध करके देखना चाहते थे। यह परम्परा अपने समय में और बाद में भी रूढ़िवादी मानी जाती रही है, लेकिन जब उसी विचार परम्परा में लाला लाजपतराय, विपिनपाल दास और लोकमान्य तिलक जैसे व्यक्ति आते हैं तो वास्तव में पूरे राष्ट्रीय संदर्भ को एक आत्म विश्वास का स्वर मिलता है। गान्धी जी ने इस आत्मविश्वास के स्वर को और अधिक गहरे और सार्थक राष्ट्रीय संदर्भ के साथ जोड़ कर प्रस्तुत किया। अंग्रेज़ों ने हमारे कृषि प्रधान देश की ग्राम व्यवस्था को जिस बेरहमी और निर्ममता से तोड़ा था, गान्धी जी ने उसी को पुनर्स्थापित करने का संकल्प लिया। लोकमान्य तिलक का स्वदेशी आन्दोलन या गणेश पूजा इस खोए हुए भारतीय स्वाभिमान को पुनर्स्थापित करने की प्रक्रिया की पहली कड़ी थी। जवाहरलाल ने गान्धी जी के रचनात्मक कार्य-क्रम, चर्खा खादी आदि को केवल एक सिपाही और सैनिक अनुशासन के रूप में ही स्वीकारा था। वह शायद इन आन्दोलनों के पीछे जो दृष्टि थी उसे ग्रहण करने की चेष्टा नहीं कर पाते थे। उन्हें लगता था कि जैसे यह सारी की सारी चीजें भारत को आधुनिक नहीं बनायेगी, इनका उपयोग केवल भारतीय जनता में चेतना और साहस भरने के लिए है।

लेकिन इन दोनों विचारधाराओं के बीच माईकेल मधुसूदन जैसा व्यक्तित्व भी है जो एक बार जितना आधुनिकता के मोह में इसाई धर्म अपनाने से लेकर अंग्रेज़ी भाषा और वेश-भूषा से अत्यन्त प्रभावित होने के बावजूद भी अन्त में इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि आधुनिकता या आधुनिकीकरण के जितने भी उपकरण हम एक विवश अनुकरणकर्ता के रूप में अपने ऊपर आरोपित करते चलेंगे उतनी ही हमारी वास्तविक जड़ें उखड़ती जायँगी और हम पंगु होते जायँगे। यही कारण है यूरोप की सारी आधुनिकता में शराबोर होने के बाद वह अनुभव करता है कि हम लाख चेष्टा करने के बावजूद भी वह नहीं हो सकते जो हम होना चाहते हैं। उसके लिए मेघनाथ बध, शकुन्तला की कल्पना और भारतीय संदर्भ उतना ही आवश्यक है, जितना कि जीने के लिए प्राण वायु आवश्यक है।

जवाहरलाल नेहरू में हमें इस खीझ, झुँझलाहट और विवशता तीनों के दर्शन होते हैं, लेकिन इन सब का निराकरण वह इसी संदर्भ में करने में असमर्थ रहे। अनेकता में एकता ढूँढ़ने वाली उनकी दृष्टि इसीलिए बुद्ध, अशोक और अकबर को महान् मानती है। वह भारतीय गणतंत्र के उस सूत्र को नहीं देख पाती जो एक प्रकार की चौखम्भा संस्कृति पर ग्राम, जनपद, प्रदेश और देश के रूप में खड़ी थी और जिसे तहस-नहस करने की चेष्टा अंग्रेज़ अपनी अन्तिम साँस तक करता रहा। ये सूत्र विविधता और पूर्ण इकाई की सम्पूर्ण स्वतन्त्रता के प्रतीक थे और उस विविधता और समग्रता के वाहक थे जिसमें साम्राज्य की एकता भले न दिखाई पड़े, पर एक स्वतंत्र रचनाशील, आत्मतुष्ट करने वाली स्वतंत्रता अवश्य थी।

आधुनिकीकरण और भारतीय बुद्धिजीवी वर्ग की स्थिति

युगेश्वर

आधुनिकीकरण आज की दुनियाँ का अत्यन्त लोकप्रिय शब्द है। आर्थिक और वैज्ञानिक दृष्टि से विकसित दुनियाँ और इन दृष्टियों से पिछड़ जाने वाले दोनों प्रकार के देशों में यह शब्द चर्चा का विषय बना हुआ है। इस चर्चा का मुख्य कारण आधुनिकीकरण या आधुनिकता का विशेष अर्थ ही है वरना हर समसामयिक काल बीते हुए काल के मुक़ाबले आधुनिक होता है और उस काल में होने वाले कार्य आधुनिकीकरण के प्रमाण हैं। अगर आधुनिकीकरण का यह सीधा और परम्परागत अर्थ होता तो इतनी बहस और शोर-सराबे की आवश्यकता ही क्या थी ? आज हम जिस आधुनिकता या आधुनिकीकरण पर विचार कर रहे हैं वह कुछ और है। यही नहीं कि वह कुछ और है बल्कि जैसे आज के संसार को विकसित और विकासशील दो खेमों में बाँटा जाता है, उसी प्रकार आधुनिकीकरण भी दो खेमों में बँटा है। न केवल बँटा है बल्कि उसे बँटा होना भी चाहिए।

तो पहले यह देखना है कि विकसित देशों का आधुनिकीकरण है क्या ? आज जिन्हें विकसित कहा जाता है ये मुख्यतः यूरोप, उत्तरी अमरीका और आस्ट्रेलिया के देश हैं। जो प्रायः रंग में सफ़ेद और धर्म की दृष्टि से ईसाई हैं जिनकी सामाजिक और सांस्कृतिक बनावट भी एक प्रकार की है। भाषागत भिन्नता होते हुए भी लिपि की समानता है। विकास की समस्याओं, स्थितियों और जीवन पद्धतियों के बारे में भी इनमें बहुत-सी समानताएँ हैं। यहाँ इन समानताओं और असमानताओं पर विचार न कर कहना इतना ही है कि इनमें बहुत सी एकताओं के कारण इन्हें यूरपीय, पाश्चात्य, सफ़ेद जाति का और विकसित कहा जाता है। दूसरी ओर हैं वे देश जिनकी आबादी रेगीनों की है जिनमें सबसे पहली समानता पिछड़ जाने और सफ़ेदों द्वारा शोषित होने की है। ये हैं एशियाई, अफ़्रीकी और दक्षिण अमरीकी राष्ट्र। ये धर्म, भाषा, लिपि, सांस्कृतिक परम्पराओं, विकास स्थितियों, दार्शनिक चिन्तनों और जीवन-पद्धतियों में काफ़ी भिन्न हैं। बौद्ध और इस्लाम धर्मों के कारण बहुत से देशों में धार्मिक एकता की स्थिति अवश्य है। फिर भी यूरोपीय दृष्टि के समान अब तक कोई एशियाई, अफ़्रीकी और लैटिन अमरीकी दृष्टि नहीं विकसित हो सकी है, न निकट भविष्य में उसकी कोई सम्भावना ही दिखाई पड़ती है। इसीलिए आज जब विश्व-दृष्टि की बात की जाती है तो वह मुख्यतः यूरोपीय दृष्टि होती है। क्योंकि यूरोपीय दृष्टि अत्यन्त संगठित, स्पष्ट और प्रभावशाली दृष्टि है। यह सम्बंधों, प्रचार यंत्रों के अधिष्ठाता और हुक़ूमत करने वाले विशिष्ट वर्ग की दृष्टि है।

अब आधुनिकीकरण की यूरोपीय दृष्टि क्या है ? यूरप का आधुनिकीकरण औद्योगीकरण का परिणाम है। इस यूरोपीय औद्योगीकरण के मूल में—आधुनिकीकरण, विशेषीकरण, नगरीकरण, बड़े स्तर पर उत्पादन, विशाल संगठन, बौद्धिकता, विश्लेषणात्मक शिक्षा, न्यायपूर्ण प्रशासन, कल्याणकारी राज्य आदि गिनाए जाते हैं। इनमें साक्षरता, लोकतंत्र, विश्व एकता, सम्पूर्ण या अधिकतम व्यक्तियों का सुख, साम्यवाद, इहवादी राज्य आदि को भी जोड़ा जा सकता है। आधुनिकीकरण की ये सारी विशेषताएँ यूरोपीय हैं। जो सम्पूर्ण विश्व को एक समझते हैं और जो अपने विचारों में कुत्ते तथा आदमी का भेद नहीं करना चाहते उनके लिए यूरोप का आधुनिकीकरण भारत के लिए भी बिल्कुल सही और निर्दोष है। और इसे जस का तस सभी देशों पर लागू कर देना चाहिए। क्योंकि विकास का यही एक मात्र मार्ग है।

किन्तु रंगीन मुल्कों की दृष्टि से विचार करने वालों के लिए आधुनिकीकरण की समस्या काफ़ी पेचीदा समस्या है। क्योंकि रंगीन मुल्कों का आधुनिकीकरण उनका अपना विकास न होकर ऊपर से लादा हुआ, बलात् आधुनिकीकरण है। उदाहरण के लिए भारत अपने ढङ्ग से विकास कर रहा था किन्तु अंग्रेज़ों के आगमन के कारण उसकी दिशा बदल गयी। अंग्रेज़ भारत का आधुनिकीकरण करने नहीं बल्कि सोने की चिड़िया कहे जाने वाले भारत को लूटने आये थे। उन्होंने भारतीय जुलाहों के अँगूठे इसलिए नहीं काटे कि वे पिछड़ी हुई तथा कम गति वाली मशीनें रखते थे। सच्चाई तो यह कि इनके चरखों-करघों को लंकाशायर की मशीनों के संरक्षण के लिए नष्ट किया गया। इसी प्रकार रेल-डाक-तार अख़बार, रेडियो, विश्वविद्यालय, प्रशासन आदि का विस्तार उन्होंने अपने राज्य को फैलाने और मज़बूत करने के लिए किया था।। अंग्रेज़ों ने यह सब अपनी निश्चित योजना के अनुसार किया था। इसीलिए हुआ वही जो वे चाहते थे। समृद्ध भारत अविकसित, विकासशील, अवरुद्ध और दुनियाँ से कर्ज़ लेने वाला बन गया। ठीक इसका उल्टा इंग्लैण्ड सहित पूरा यूरप और अमरीका विकसित और समृद्ध बन गया। यह सब इस चालाकी से किया कि आज भारतीयों को भी समझाना पड़ता है कि भारत में अंग्रेज़ी राज्य की भूमिका लुटेरों की भूमिका रही है। फिर भी बहुत से शिक्षित और आधुनिक अन्य भारतीय इसे कोरी बकवास समझे तो आश्चर्य नहीं

यूरोप का आधुनीकरण भारत जैसे रंगीन देशों के पिछड़ेपन का कारण बना है। इसे मान कर एक दूसरे ऐतिहासिक पक्ष की ओर ध्यान दीजिये। पाश्चात्य आधुनिकीकरण ने रंगीन देशों का शोषण तो किया ही, साथ ही उनमें एक विशिष्ट वर्ग की स्थापना की। इस विशिष्ट वर्ग में आधुनिक शिक्षित व्यक्ति, धनी व्यापारी, प्रशासक, सेना के पदाधिकारी, बहुत से राजनेता, बहुत से अख़बारनवीस, विश्वविद्यालयीय अध्यापक और एक हद तक शहर के निवासी भी आते हैं। जो बड़े उद्योगों, वैज्ञानिक आविष्कारों, आधुनिक शिक्षा और संचार साधनों के अति निकट हैं। ये अपने देश के विशाल बहुमत से अलग हैं, अलग सोचते हैं, और अलग रहना चाहते हैं। इनकी भाषा-भूषा, इनका खान-पान सब भिन्न ढंग का होता है। प्रत्यक्ष रूप से इनके मन में यह बात है कि ये सारी सुविधाएँ जो इन्हें मिली हैं वह पाश्चात्य आधुनिकीकरण की देन है। अपने वर्ग स्वार्थों से अलग सोचने का न तो इनके पास समय है, न भाषा और शायद न आवश्यकता है। ये पहले अंग्रेज़ी राज की राजभक्त प्रजा थे और आज इंग्लैंड

अमरीका और रूस से समान भाव से प्रभाव ग्रहण कर रहे हैं। इन्हें 'पाश्चात्य भारत' का निवासी भी कहा जा सकता है। शासन, प्रशासन, न्याय, प्रचार साधन, उत्पादन, योजना, शिक्षा, राजनीति सब पर इनका अधिकार है। किसी भी प्रकार के परिवर्तन के लिए इनके दिमाग़ को भी बदलना होगा। ये आधुनिकीकरण पर पाश्चात्य ढंग से प्रतिक्रिया करते हैं। यह वर्ग पाश्चात्य आधुनिकोकरण को बड़े ही आदर्शात्मक ढङ्ग से ग्रहण करता है। इसलिए इस समस्या पर भिन्न ढङ्ग से सोचने की आवश्यकता है।

यूरोप ने जब आधुनिकीकरण आरम्भ किया था उस समय उसकी आर्थिक हालत बहुत ख़राब थी, सांस्कृतिक और दार्शनिक दृष्टि से भी वह दुनियाँ के विकसित देशों में न था, किन्तु भोगते-भोगते नवीन वैज्ञानिक विकास और दुनियाँ में समृद्ध की खोज की गहरी लगन से जग गया था। कम आबादी, उपनिवेशों का शोषण और वैज्ञानिक अनुसंधानों ने यूरोप-अमरीका के आधुनिकीकरण और समृद्धि को महत्त्वपूर्ण बनाया। इसके विपरीत भारत की घनी आबादी, उपनिवेशों का अभाव और वैज्ञानिक विकास को मंदता आधुनिकीकरण के बारे में एक नवीन दृष्टि की माँग करती है। वैज्ञानिक विकास की मंदता कोई स्थायी समस्या नहीं है। किन्तु भाषा और साधनों की कमी के कारण यह एक तात्कालिक समस्या अवश्य है।

गांधी ने भारत के आधुनिकीकरण के सन्दर्भ में इन समस्याओं पर विचार किया था, किन्तु योजना आयोग और आज की भारतीय सरकारों के सामने जैसे यह कोई समस्या ही न हो। इस सम्बन्ध में इकाफे को यह चेतावनी कि इन आयोजनों से भारत १३४ वर्षों में जापान का जीवन स्तर प्राप्त करेगा हमारे आधुनिकीकरण पर महत्त्वपूर्ण विचार है। आधुनिकीकरण में जिस बौद्धिकता और विवेकशीलता की बात की जाती है, वह केवल इसी अर्थ में सही है कि वह धार्मिक विश्वास और श्रद्धा की अपेक्षा तर्क और विचार को अधिक महत्त्व देता है। सच्चाई तो यह है कि तर्कशीलता स्वयं में एक विश्वास है। जैसा कि इस आधुनिकीकरण के सिलसिले में हुआ है। आधुनिकीकरण आज की ज़िंदगी का विश्वास बन गया है और सोचा यह जाता है कि बड़े उद्योगों द्वारा, बड़े पैमाने का उत्पादन हर देश-काल में सही और लाभदायक है। जबकि भारत जैसे देशों में स्थिति बिल्कुल उल्टी है। यहाँ ये साधन मानव-मुक्ति के साधन न हो कर मनुष्य को दास बनाने वाले साधन रहे हैं। इसी प्रकार निर्बाध भोग, आलीशान भवन, मुक्त व्यापार, उन्मुक्त ख़र्च, महँगे फ़ैशन, तड़क-भड़क, चाक्य-चिक्य, टेलीविज़न, शीत-ताप-नियन्त्रित आवास, रेस्तराँबाज़ी आदि प्रगति के अनिवार्य लक्षण हैं, जब कि भारत जैसे ग़रीब देश के लिए ये व्यसन, फ़िज़ूलख़र्ची और देश की समृद्धि में बाधक हैं। यही बात विदेशी भाषा और विदेशी शिक्षा की भी की जा सकती है। सामान्यतः सोचा जाता है कि विदेशी भाषा का माध्यम और विदेशों में शिक्षा प्राप्त करना प्रगतिशीलता और आधुनिकीकरण है। इस सम्बन्ध में भारत के प्रधान मन्त्री ने अभी अमरीका में जो आदर्श उपस्थित किया वह एक चेतावनी है। वह यह मानती है कि नाचना बुरा नहीं है, युवावस्था में वह नाची भी हैं, किन्तु उनके देश के लोग इसे अच्छा नहीं समझेंगे अतः वह नहीं नाचेगी। उनका यह कथन दो बातें प्रकट करता है। एक यह कि उनमें आत्मविश्वास का अभाव है। दूसरा यह कि प्रधान मन्त्री होकर भी अपने देश को विदेशियों के सामने पिछड़ा बताती हैं।

अब विदेशों में जाने वाले विद्यार्थियों की बात कीजिये। सामान्यतः विदेशों में जाने वाला विद्यार्थी भारत में पढ़ने वाले विद्यार्थियों से अपने को विशिष्ट समझता है। यही नहीं उस देश में बार-बार जाने, वहाँ नौकरी पाने और बस जाने की लगातार कोशिश करता है। यह सब नहीं होता तो अपने देश को कोस कर ही सन्तोष कर लेता है। शायद ही कोई विदेशी छात्र अपने देश सम्बन्धी शोध के लिए भारत आता है जब कि भारतीय विद्यार्थी भारत सम्बन्धी शोध विदेशों में विदेशी अध्यापकों के मातहत करके गौरव का अनुभव करते हैं। इन शोधों में तत्-तत् देशों के साथ ही एक यूरोपीय दृष्टि का प्रचार होता है। यह सब आधुनिकीकरण के नाम पर हो रहा है।

यूरोपीय ढंग के आधुनिकीकरण को मान लेने का एक बड़ा नतीजा यह निकला है कि यूरोप रंगोन मुल्कों का शोषक रहा है, यह भूल कर हम उसे अपना नेता मान रहे हैं। वह विकसित है और हम अविकसित। फिर तो हम विकसित या श्रेष्ठ वर्ग के आचरणों का अनुकरण करते हैं। अमरीकी समाज एफ़रात का समाज है। ऐसे समाज में त्याग, निवृत्ति, संयम आदि की बातें न को जायँ तो काम चल सकता है। किन्तु जिस देश में बड़ी जनसंख्या को अच्छा और समान जीवन-स्तर देना हो वहाँ त्याग, निवृत्ति, संयम ये ऐसे जीवन मूल्य हैं जिनका परित्याग ठीक नहीं। शराब-बन्दी एक ऐसा ही मूल्य है जो भारतीय समाज के लिए आवश्यक है। इसके अभाव में हमारा आधुनिक वर्ग परमुखापेक्षी बन गया है। वह भूल गया है कि कर्ज़ लेने की कोई सीमा होती है। और जो हमें दे रहा है उसके उद्देश्य क्या हैं तथा हमारे जीवन पर उसका क्या प्रभाव पड़ रहा है। इस भोगवादी धारणा ने हमारे देश के विशिष्ट वर्ग को एक तरफ़ अपने देश के बहुमत से अलग कर भ्रष्टाचार में लिप्त कर दिया है दूसरी ओर विदेशियों—धनी विदेशियों के सामने हाथ बाँधे खड़े रहने में निःसंकोच बना दिया है।

आधुनिकीकरण का यह विशिष्ट वर्ग भाषा के मामले में भी बड़ा आग्रही है। उसके विचार में अंग्रेज़ी भारत के लिए वरदान रही है। और दुनियाँ को देखने के लिए भारत की खिड़की है। किन्तु अंग्रेज़ी खिड़की की अपेक्षा इंग्लैण्ड द्वारा प्रदत्त इंद्रजालिक चश्मा अधिक है। इस चश्मे को लगाने वाला भारतीय विदेश और विदेशी जीवन अपनी दृष्टि से नहीं बल्कि इंग्लैंड की दृष्टि से देखता है। इस भाषा ने भारतीय भाषाओं का विकास तो अवरुद्ध किया ही साथ ही दुनियाँ, अपने पड़ोसियों यहाँ तक कि अपने देश को भी अंग्रेज़ी चश्मे से देखने के लिए मजबूर कर दिया।

अब कोई पुछ सकता है कि तो क्या बुरा हुआ? क्योंकि अंग्रेज़ी के तीन गुण हैं १—वह विश्व भाषा है, २—वह एकता की भाषा है, ३—वह आधुनिकीकरण की भाषा है। जहाँ तक अंग्रेज़ी के विश्व भाषा होने की बात है इतना ही कहना है कि विश्व में कई भाषाएँ हैं जिन्हें विश्व भाषा कहा जा सकता है। दूसरी बात यह कि भारत में अंग्रेज़ी भाषा न तो एकता की भाषा रही है न आधुनिकीकरण की। अंग्रेज़ी और अंग्रेज़ों ने भारत में केवल प्रशासनिक एकता पैदा की थी। इसके अतिरिक्त उनके सारे विचार और अध्ययन विलगाववादी रहे हैं। अंग्रेज़ी के माध्यम से होने वाले भारतीय भाषाओं और इतिहास के प्रायः सारे अध्ययन

बिलगाववादी रहे हैं और अंग्रेज़ी के अध्ययनों ने भारतीय जीवन की समग्रता की अपेक्षा उसके अलगाव पर अधिक ज़ोर दिया है। भारत का बँटवारा तथा दूसरे प्रकार के साम्प्रदायिक भाषा गत और जातिगत झगड़े उन्हीं बिलगाववादी अध्ययन के परिणाम हैं।

यहीं आधुनिकीकरण की उस भूमिका पर भी विचार कर लेना चाहिए जिसमें कहा जाता है कि आधुनिकीकरण मनुष्य को जात-पाँत, भाई-भतीजावाद, प्रांतीयता तथा राष्ट्रीयता की संकीर्णताओं से ऊपर उठाता है। इस सम्बन्ध में विश्व एकता की बात भी की जाती है। सबसे पहली बात यह कि भारत में विश्व एकता का नारा एक प्रकार की गुलामी बन गया है। जो भी व्यक्ति या दल विश्व संगठन में हैं वे प्रायः अपने राष्ट्रीय स्वार्थों को भी विश्व संगठनों की दृष्टि से ही देखते हैं। और हर विश्व संगठन पर किसी न किसी यूरोपीय देश का स्थायी प्रभाव तथा कब्ज़ा होता है। यह बात कम्युनिस्ट और ग़ैर कम्युनिस्ट दोनों प्रकार के संगठनों के लिए सत्य है। अब रही बात भाई-भतीजावाद, जात-पाँत, भाषा और प्रांतीय संकीर्णताओं से ऊपर उठने की। तो इस संकीर्णता को उन लोगों ने चुनौती दी है जो यूरोपीय ढंग की आधुनिकता का भी चुनौती देते हैं। गांधी चुनौती वाली आधुनिकता के प्रतीक थे और जवाहरलाल यूरोपीय आधुनिकता के। इसीलिए संकीर्णताएँ जवाहरलाल के युग में गांधी युग की अपेक्षा कई गुना बढ़ी हैं।

यूरोपीय आधुनिकता में 'जोखिम' का अंश भी था किन्तु भारत में वही आधुनिकता 'जोखिम' से बचने का साधन रही है। इसीलिए जैसे-जैसे यूरोपीय आधुनिकता या आधुनिकीकरण बढ़ रहा है जोखिम के स्थान पर चापलूसी, पराश्रयता और वीर्यहीनता बढ़ रही है। सदाचार, राष्ट्रीय स्वाभिमान और गौरव का स्थान पाखंड, काल्पनिक विश्व एकता और अन्तर्राष्ट्रीय दब्बूपन ले रहे हैं।

यूरोपीय आधुनिकीकरण की कोई जड़ भारत में न होने के कारण भारत की बहुत सी समस्याओं के बारे में हमारा दृष्टिकोण नकारात्मक होता जा रहा है। उदाहरण के लिए वर्ण-व्यवस्था, परिवार, परम्परा और धर्म की बातों को लें। भारत में वर्ण-व्यवस्था के विरुद्ध विद्रोह अत्यन्त प्राचीन है। यूरोपीय आधुनिकीकरण ने उसकी अवधारणा में तो परिवर्तन अवश्य किया है, किन्तु उसके प्रयोग पक्ष को वह और भी मज़बूत कर रहा है। इसी प्रकार परिवार को हम भी विकास विरोधी ही मानें, यह आवश्यक नहीं। आधुनिकीकरण को परम्परा से कहीं न कहीं जोड़ना होगा, वरना यह बिना बैठने वाला भूत हो जायगा जिसके पैर कभी ज़मीन पर पड़ते ही नहीं। मूल्यगत बहुत से निर्णयों के लिए भारतीय परम्परा हमारे लिए एक मूल्यवान वस्तु है। इसी प्रकार धर्म पर भी पुनर्विचार की आवश्यकता है।

भारत में आधुनिकीकरण की स्वाभाविक प्रक्रिया न होने के कारण बहुत सी बातें जो यूरोप को स्वाभाविक ढंग से प्राप्त हुईं थीं वह भारत को न मिल सकीं। कहा जा चुका है कि भारत का विशिष्ट वर्ग आज और अधिक भाई-भतीजावाद, प्रांतीयता, भाषा संकीर्णताओं में फँसा है। इसी प्रकार उसके वर्गगत अहंकार ने उसके मन में शरीरिक श्रम के प्रति अनादर पैदा कर दिया है। वह एक कठोर और उद्योगशील निर्माता की अपेक्षा बाबू या बबुआ बनाना अधिक पसन्द करता है।

ऐसा लगता है कि यूरोप के इस प्रभाव से हम बिल्कुल पिंड छुड़ा सकेंगे इसमें सन्देह है। क्योंकि यूरोप की कुछ संस्थाएँ तो हमारी अनिवार्य नियति बन गयी हैं। उदाहरण के लिए विश्लेषणात्मक या आधुनिक ढंग की शिक्षा और शिक्षण संस्थाएँ, संसदीय प्रणाली, वैज्ञानिक अनुसंधानों की प्रणालियाँ, कुछ संचार-साधन, अन्तर्राष्ट्रीय और विश्व संगठन की कल्पनाएँ और उनका जीवन पर प्रभाव। इन सबने मिल कर हमारे जीवन और परम्परा को बिल्कुल झकझोर डाला है। आवश्यकता यह थी कि इनसे भारतीय परम्पराओं, चिन्तन पद्धतियों और सामाजिक संस्थाओं का तालमेल होना चाहिये था। इसके बदले हमारा सारा नियोजन बाहरी आदर्शों और दबावों के बल पर हो रहा है। नीचे के संगठन तो सरकारी अनुदान के लिए अपने बजट का कलेवर बढ़ा ही रहे हैं। भारत सरकार भी अपने बजट को अनियोजित ढंग से बढ़ा रही है। यही हालत है उत्पादन और उपभोग की वस्तुओं की। बिना सोचे और बिना देखे-परखे बहुत सी वस्तुओं का उत्पादन और उपभोग बढ़ाया जा रहा है। उदाहरण के लिए तड़क-भड़क वाले कपड़ों, शौक़-तमाशे और ऐशो-आराम की मँहगी वस्तुएँ, बहुत-सा अंग्रेज़ी में लिखा साहित्य, विदेशों की धरती के लिए बनी खादें जैसी वस्तुओं को लिया जा सकता है। ये उदाहरण मात्र हैं, पूरी सूची नहीं! इसी प्रकार शिक्षा और दफ़्तरशाही पर भी बेढंगा और अनियोजित खर्च और कार्य हो रहा है। बिजली को उत्पादन में न लगा कर शीत-ताप नियंत्रित गृहों पर खर्च किया जा रहा है।

और एक अन्तिम बात। गोस्वामी तुलसीदास ने लिखा है—"हित अनहित पशु पच्छिहु जानहिं"। किन्तु हमारे देश का बुद्धिजीवी यूरोपीय आधुनिकीकरण के चक्कर में इतना अधिक आ गया है कि उसे अपना हित-अनहित भी समझ में नहीं आ रहा है। एक तो किसी भी कार्य का मानदण्ड विदेशी हो नहीं सकता। फिर अगर एक बार विदेशी मानदण्ड मान भी लें तो विदेश को दुहराना हमें शिष्य भले ही बना सकता है हमारा स्वतंत्र व्यक्तित्व नहीं विकसित कर सकता। योरप के लोग भी देर-सबेर स्वतंत्र व्यक्तित्व की ही कद्र करेंगे। कद्रदानों की तबीयत आज भी ठीक है। कोई ख़ुद उल्लू बनना चाहे तो इसमें कद्रदानों का क्या दोष? विदेशी भी अपने अनुकर्त्ता को किस प्रकार अनुपयोगी समझता है इसे चित्रकला के माध्यम से अच्छी प्रकार समझा जा सकता है। दो चित्र सामने रखिये एक विदेश से प्रभावित और दूसरा पूर्ण भारतीय। एक विदेशी भारतीय चित्र की ओर आकर्षित होगा। अगर आप विदेशों से ही प्रचार और पैसा चाहते हैं तो वह भी मिलेगा।

———

बौद्धिक, बुद्धिजीवी और जनता

रामस्वरूप चतुर्वेदी

देश के समकालीन जीवन में गतिशीलता न होने की स्थिति का विश्लेषण करते समय दोष कभी बौद्धिकों पर डाल दिया जाता है और कभी जनता पर। बौद्धिकों के सम्बन्ध में आरोप है कि वे अकर्मण्य हैं, जनता के बारे में कहा जाता है कि वह सोचती नहीं। बुद्धिजीवी वर्ग शिक्षित मध्यवर्ग है, जिसने कभी राष्ट्रीय स्वाधीनता संग्राम का नेतृत्व किया था, और जो अब अधिकाधिक आराम की ज़िन्दगी बसर करने के उपाय ढूंढ़ने में लगा है। इसी बात को यों कहा जा सकता हैं कि मुट्ठी भर बौद्धिक हैं, जो खिन्न हैं पर आन्दोलन नहीं कर सकते, पचास लाख बुद्धिजीवी हैं, जो अपनी सम्मोहन-शक्ति के बल पर शेष जनता का आराम के साथ शोषण करते हैं....और....और जनता असन्तुष्ट नहीं है। देश की इस स्थिति से प्रायः सभी विचारक परिचित हैं, और हमारे, आपके, सबके देखते यह घटित हो रहा है।

बौद्धिक और जनता के बीच वैचारिक संचरण की प्रक्रियाएँ सीधे नहीं चलतीं। बौद्धिकों का चिन्तन प्रायः समाज के बुद्धिजीवी वर्ग—अध्यापक, पत्रकार, डाक्टर, वकील—के माध्यम से जनता तक पहुँचता है। इस अप्रत्यक्ष संप्रेषण का कारण स्पष्ट है। बौद्धिक, अर्थात् उच्चतम सर्जनात्मक क्षमता से सम्पन्न व्यक्तियों का क्षितिजीय संचरण इतना तीव्रगामी होता है कि निम्नाभिमुख संचरण को स्वयं ही परिचालित कर पाने की स्थिति में वे नहीं होते। उनकी रचना और विचार-प्रक्रिया जिस गति से आगे बढ़ती है उसी गति से अपेक्षया निम्न मानसिक स्तरों में नहीं पैठ पाती। यह निम्नाभिमुख संचरण बुद्धिजीवियों के माध्यम से होता हैं।

देश का बौद्धिक या रचनाकार वर्ग जब अपने को इतर जीवन से विच्छिन्न, जड़हीन अनुभव करता है तो उसका मूल कारण यही मनाना होगा कि उक्त दोनों प्रकार के संचरण में अन्तर काफ़ी बढ़ गया है। रचनाकार का भाव-यंत्र सामान्यतः इतना संवेदनशील होना चाहिए कि वह समझ सके कि अपनी रचना के माध्यम से वह जनता का संस्पर्श कर रहा है या नहीं। संप्रेषण की इस प्रक्रिया में हमारे देश में एक बड़ी बाधा शिक्षा के एकदम सीमित क्षेत्र या उसके विभिन्न ऊँचे-नीचे स्तरों की स्थिति के कारण है। पर मूल कारण यह है कि समाज का बुद्धिजीवी वर्ग, जोकि बौद्धिक और जनता के बीच की अनिवार्य कड़ी है, अपने न्यस्त स्वार्थों से प्रेरित होकर परिवर्त्तन का विरोधी है, और इसीलिए वैचारिक संचरण को संभव बनाने की बजाय उसे कोशिश करके रोकता है।

इस विषम स्थिति के उदाहरण साहित्य, विज्ञान और कलाओं में तो मिलते ही हैं,

राजनीतिक क्षेत्र में मौलिक और ख़तरनाक चिन्तन करने वालों की भी वही परिणति है। वे भी जनता को सीधे सम्बोधित कर पाने में अपने को असमर्थ पाते हैं, जबकि अन्यों की तुलना में सामान्य जनता के साथ उनका संबंध निकटतर है।

बुद्धिजीवी मध्यवर्ग देश की राजनीतिक प्रक्रिया में हमेशा बड़ी महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है। विदेशी शासन के समय उसका अधिकांश अपने स्वार्थों के कारण सरकारपरस्त रहता है। पर इसी वर्ग को राजनीतिक अपमान का अनुभव सबसे अधिक होता है, फलतः राष्ट्रीय चेतना यहीं गहरे विकसित होती है। फिर स्वाधीनता की लड़ाई जीते जाने पर शासन की बागडोर इन्हीं को मिलती है। और यहीं सारी क्रान्ति के विफल होने की संभावना आती है। क्योंकि एक बार नौकरशाही के माध्यम से शासन का रस चख लेने के बाद यह वर्ग आतंरिक शक्ति के सूत्र जनता के हाथों में कभी नहीं सौंपना चाहता, जोकि प्रजातंत्र की आधारभूत शर्त है। इसीलिए प्रजातांत्रिक पद्धति में बुद्धिजीवी मध्यवर्ग पर एक तरफ़ से जनता का दबाव होना चाहिए और दूसरी तरफ़ से बौद्धिक वर्ग का। तभी समाज में शक्ति का समुचित संतुलन क़ायम रह सकता है।

पर हमारे देश में हुआ इससे उल्टा है। बीच का बुद्धिजीवी वर्ग जनता के ऊपर साफ-साफ हावी है, और बौद्धिकों के प्रति उसका स्पष्ट उपेक्षा का भाव है। इस स्थिति को बनाने में बहुत से कारण उत्तरदायी हैं, उनमें दो मुख्य हैं। एक तो परम्परा से चला आने वाला भारतीय समाज का जातीय भेद-भाव, और दूसरा भेद-भाव जो आधुनिक काल में अंग्रेज़ी की स्थिति के कारण उत्पन्न हुआ है, और क्रमशः अपनी जड़ें जमाता जा रहा है। यह एक विडम्बना ही है कि भारत में अंग्रेज़ी राज्य समाप्त हो जाने पर अंग्रेज़ी का राज्य मज़बूत हो रहा है। समाज इस तरह जब अनेक छोटे-बड़े वर्गों में बँट जाय तो सर्जनात्मक संचरण समतल भाव से संभव नहीं। समाजवाद में मूलभूत बात है सबको विकास के लिए समान सुविधाएँ मिलने की। और समान सुविधाओं के सिद्धान्त को परिचालित करने में सबसे बड़ी बाधा है अंग्रेज़ी भाषा की। समाज का सामान्यतः शिक्षित सम्पन्न मध्यवर्ग, जिसमें प्रस्तुत लेखक भी गिना जाएगा, अंग्रेज़ी के माध्यम से शक्ति संचित किये बैठा है, और अंग्रेज़ी के माध्यम से ही वह उस शक्ति को अपनी अगली पीढ़ी के हाथों सौंपना भी चाहेगा।

मूल प्रश्न इस अगली पीढ़ी का ही है, क्योंकि हमें जो कुछ होना है हम हो चुके हैं। इस अगली पीढ़ी में बौद्धिक, बुद्धिजीवी और जनता के बीच संप्रेषण की प्रक्रिया ठीक-ठीक चल सके, इसके लिए ज़रूरी है कि यह संप्रेषण भारतीय भाषाओं में हो, जिससे कि जनता अपना दबाव बुद्धिजीवियों पर बराबर रख सके, और बुद्धिजीवियों तथा बौद्धिकों के बीच परस्पर संवाद चल सके। इस समय दोनों में से एक भी नियंत्रण-प्रक्रिया नहीं चल रही है, जिसकी वजह से राष्ट्रीय जीवन में कोई गति या संचरण नहीं है।

बौद्धिक और जनता के बीच सीधा संवाद प्रायः कम होता है। जनता को बौद्धिक की रचना-प्रक्रिया का कुछ न कुछ संस्पर्श मिलता है, और बौद्धिक अपनी सृजन-प्रक्रिया में जनता का आधार और नैतिक समर्थन चाहता है। वर्तमान स्थिति में सामान्य जनता तक बौद्धिक की बात क्यों नहीं पहुँच पाती, इसका कुछ संकेत ऊपर दिया जा चुका है। इधर दूसरे पक्ष में

बौद्धिक को जनता की ओर से वैचारिक उत्तेजन नहीं मिल पाता। तब उसे अधिकतर निर्भर रहना पड़ता हैं उस क्रिया-प्रतिक्रिया पर जो उसके और विदेशी, ख़ास तौर से पश्चिमी साहित्य और विचारों के बीच होती है। स्पष्ट ही उसका यह अनुभव पुस्तक के माध्यम से है और विदेशी है, जो उसकी सर्जनात्मक प्रतिभा को पूरी तरह से स्फुरित नहीं कर पाता।

बनस्पतियों को विकसित और पुष्ट होने के लिए निश्चित भौगोलिक क्षेत्र चाहिए, फिर हवा वे पूरे, उन्मुक्त आकाश से लेती रहें। बौद्धिक और कलात्मक सर्जन—जो सर्जन-क्षमता का उच्चतम रूप हैं—संभव होने के लिए राष्ट्रीय-सांस्कृतिक क्षेत्र की आधार-भूमि आवश्यक है, यद्यपि कि वैचारिक उत्तेजन कहीं से भी ग्रहण किया जा सकता है। राष्ट्रीय मानस के संस्कार और प्रतिभा की इतर क्षेत्रों से गृहीत विचारों से टकराहट होने पर ही सर्जनात्मक क्षमता पूरी तरह गतिशील हो सकती है। सर्जन मात्र में किसी न किसी स्तर की टकराहट और द्वन्द्व अपेक्षित है, भारतीय जीवन और संस्कृति अब तक अपनी उदार वृत्ति और बहुत कुछ राजनीतिक परवशता के अनुरूप समन्वय की वृत्ति पर बल देती रही है। पर समकालीन परिवेश में यह प्रक्रिया अब बहुत सार्थक और फलप्रद नहीं दिखाई देती।

सांस्कृतिक संचरण एक स्तर पर गतिशील होते रह कर जब परिपूर्णता और फिर जड़ता में बदल जाता है तो उसे फिर से गतिशील होने के लिए ज़रूरी है कि वह भिन्न स्तर पर एक नयी उन्मुखता के साथ शुरुआत करे। और यहीं पर अन्तःसंपर्क, टकराहट या द्वन्द्व का महत्त्व दिखाई देता है। अब तक सांस्कृतिक प्रक्रिया अपनी प्रकृति में बहुत कुछ अचेतन रही हैं। पर सिमटती सीमाओं वाले आधुनिक संसार और अधिकाधिक स्वचेतन होते हुए मानस की माँग है कि हम ऐतिहासिक तथा सांस्कृतिक संचरण की पद्धति पर सजग होकर विचार करें, और उसे संगत ढंग से नियोजित करे। यही आधुनिकता की मूल प्रक्रिया है।

इस विचार-क्रम में ज़रूरी लगता है कि अब हम वैचारिक उदारता के साथ-साथ राष्ट्रीय निष्ठा पर बल दें। मैक्समूलर तथा पाल ब्रंटन जैसे विदेशी मनीषियों के सहयोग में राममोहन राय से लेकर जवाहरलाल नेहरू तक—गांधी के बड़े सशक्त अपवाद को छोड़ कर—हमारे पुनर्जागरण में अधिकतर 'भारत की खोज' की प्रक्रिया जारी रही है, जो अपने में निश्चय ही मूल्यवान है। पर अब उस खोज के बाद मूल प्रश्न भारतीय व्यक्तित्व के निर्माण और विकास का है, जिसकी ओर सबसे अधिक ध्यान गांधी ने दिया था, लेकिन बाद की सतही अन्तर नागरिकता के दौर में जिसे हमने उपेक्षित कर दिया। 'भारत की खोज' का कोई अर्थ नहीं रह जाता यदि हम भारतीय व्यक्तित्व की बात नहीं सोचते। इस व्यक्तित्व के विकास की प्रक्रिया में स्पष्ट है कि बाहरी तत्त्वों को आत्मसात् करने के लिए अब आंतरिक शक्ति पहले विकसित करनी होगी। और हमारा बौद्धिक तथा रचनाकार वर्ग इस आन्तरिक शक्ति को तभी पा सकता है जबकि वह देश की भले ही पिछड़ी पर उत्सुक जनता के साथ संपर्क-सूत्र स्थापित करे, जिसके लिए हर क्षेत्र में 'समान भाषा' पहली आवश्यकता है। और बुद्धिजीवी मध्यवर्ग के मानस में राष्ट्रीय उन्मुखता उत्पन्न करना भी उतना ही ज़रूरी है ताकि वह संप्रेषण का सक्रिय माध्यम बन सके। हमें अपनी संवेदनात्मक एकता इस दृष्टि से देश की अपढ़ और

ग़रीब जनता से जोड़ना है न कि पश्चिम को उन्नत और समृद्ध जातियों से। उनकी स्थिति हमारे लिए एक स्वस्थ चुनौती के रूप में आनी चाहिए न कि हमारी अपनी परिपूर्णता के रूप में। किसी भी विकास के लिए हमारी पूँजी तो हमारा पिछड़ापन और हमारी ग़रीबी ही हो सकती है, बशर्ते की उस स्थिति में हमारी संसक्ति हो, राग या आवेश के रूप में शायद उतना नहीं जितना कि ठंडे पर दृढ़ संकल्प के रूप में। इसी तर्क से हिन्दी मानस का पिछड़ापन सारे भारतीय मानस का प्रतिनिधित्व करता है, और शक्ति का स्रोत वहीं है। हिन्दी में भारतीय मानस की जड़ता और नयी शक्ति की संभावना दोनों ही प्रतिफलित होती हैं, क्योंकि उसमें मूल राष्ट्रीय उन्मुखता है। अतः हम हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं के पिछड़ेपन को लेकर लज्जित न हों, बल्कि उसे खुले मन से मान कर आगे बढ़ें। हमारी इस ग़रीबी को न गुप्त और और मौर्यकालीन भारत का वैभव ढँक सकता है, और न वर्त्तमान काल के यूरोप की उपलब्धियों के प्रति एक ग़लत तरह का आत्मीय भाव ही। संबंध हमारा दोनों से है और उपयोग भी हम दोनों का कर सकते हैं, बशर्ते कि हम वर्त्तमान यथार्थ से कतराएँ नहीं वरन् उसे स्वस्थ मन से स्वीकार करें।

बौद्धिक और बुद्धिजीवियों के वर्ग से एक साथ संबद्ध होने के कारण कभी-कभी डर लगता है कि हमारा यह आत्मालोचन एक सीमा के बाद सक्रियता का स्थानापन्न न हो जाए। इसलिए हमें एक दृष्टि इस आत्मालोचन की प्रक्रिया पर भी रखनी है। यह ठीक है कि हर स्थिति और हर मोड़ पर बड़े विषम दुष्टचक्र बन गए हैं—शिक्षा और प्रजातंत्र के बीच, भारतीय भाषा और अंग्रेज़ी के बीच, बौद्धिक, बुद्धिजीवी और जनता के बीच, और आत्मालोचन तथा सक्रियता के बीच। एक नहीं अनेक चक्रव्यूह हैं, और संघर्ष-कौशल को अभी अद्यतन बनाना है। दो ही उपाय हैं जिनको अलग-अलग भी चलाया जा सकता है, और एक साथ भी। एक तो यह कि बुद्धिजीवियों पर अधिकाधिक दबाव डाला जाए कि वे बौद्धिक और जनता के बीच ठीक-ठीक सेतु बनें। और दूसरे यह कि बौद्धिक स्वयं अपना व्यावहारिक आलस्य छोड़ कर जनता से सीधे बात करें, यदि बुद्धिजीवी वर्ग संप्रेषण में सहयोग करने के लिए प्रस्तुत न हो। और इस कार्यक्रम में साध्य और साधन दोनों ही रूपों में भारतीय भाषाओं की प्रतिष्ठा सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण होनी है। भारतीय भाषाओं की प्रतिष्ठा का अर्थ है भारतीय व्यक्ति में गहरी आस्था, जो हमारे सर्जनात्मक संचरण के लिए पहली और आधारभूत आवश्यकता है।

———

भारतीय बौद्धिक, कौन और कैसा

विपिन कुमार अग्रवाल

भारतीय बौद्धिक कौन हैं ? कोई न कोई होगा ज़रूर क्योंकि इस आयोजन के घोषित विषय में ये शब्द हैं । कभी-कभी अपने कमज़ोर क्षणों में लगता है कि मैं हूँ । मुझे पूरा विश्वास है कि मेरे मित्र भारतीय बौद्धिक हैं । मेरे कमज़ोर क्षण तभी आते हैं जब उनकी दृष्टि में मैं अपने को तौलने की कोशिश करता हूँ । अगर वह भारतीय बौद्धिक हैं और इतने अरसे से मैं उन सब का मित्र बना रहा हूँ, तो मुझमें भी भारतीय बौद्धिक के कुछ लक्षण होंगे । जो लक्षण मुझमें नहीं हैं और मेरे मित्रों में हैं वह अवश्य विशेष लक्षण होंगे, क्योंकि उनकी उपस्थिति में मुझे अपने मित्र निहायत भारतीय बौद्धिक लगते हैं और उनके अभाव में मुझे अपने भारतीय बौद्धिक होने पर शक़ होने लगता है । इसलिए लक्षणों और विशेष लक्षणों, दोनों की चर्चा करनी होगी । ग़लतफ़हमी न हो, इसलिए कह देना चाहूँगा कि यहाँ मैं और मैं-के-दोस्त कोई ख़ास गुट को वर्णित नहीं करते वरन् हर शहर में पाये जाने वाले भारतीय बौद्धिकों के गुटों के प्रतीक हैं । हर ऐसे गुट में सभी सदस्य भारतीय बौद्धिक हैं, पर उम्र और झुकाववश कुछ ज़्यादा भारतीय बौद्धिक हैं और कुछ कम ।

पहली बात जो लगती है, वह यह कि भारतीय बौद्धिक कहलाये जाने के लिए आवश्यक शर्त है कि वह लेखक हो । चित्रकार और संगीतकार भी इसमें नहीं आते । यह शर्त आवश्यक है पर काफ़ी नहीं । क्योंकि बहुत से कवियों, उपन्यासकारों और नाटककारों के नाम लिए जा सकते हैं जो १९३०-३५ के आसपास ख्याति पा चुके थे और अपने को भारतीय बौद्धिक न पहले कहते या कहलवाते थे और न अब । यही नहीं, आज जो बहुत से बिल्कुल नयी पीढ़ी के लेखक हैं वे भी भारतीय बौद्धिक के नाम से चिढ़ते हैं । उसे ख़तरनाक नहीं तो मक्कार और आत्मकेन्द्रित मानते ही हैं । अगर ये दोनों बातें मोटे तौर पर सही हैं तो लगता है कि भारतीय बौद्धिक विशेषकर वे लेखक हैं जो १९४०-५० के आसपास या तुरंत बाद फले-फूले । आज इन लेखकों की उम्र प्रायः ४०-५० के लगभग है । अतः सहूलियत के लिए इन्हें ४०-५० का भारतीय बौद्धिक कहा जा सकता है । वैसे तिथियों को थोड़ा बहुत इधर-उधर सरकाया जा सकता है ।

४०-५० के लेखकों के पहले भारतीय बौद्धिक कौन कहलाते थे इसका अनुमान लगा पाना मेरे लिए मुश्किल है । टैगोर का अकेला नाम है इसलिए छोड़ा जा सकता है । उसके बाद ऐसा लगता है कि तेजबहादुर सप्रू, अमरनाथ झा, चिन्तामणि आदि कुछ ऐसे नाम हैं जो

इसके अन्तर्गत आ सकते हैं। यह फ़ेहरिस्त लम्बी की जा सकती हैं। ये लोग अन्दर से भारतीय और बाहर से अंग्रेज़ों की टक्कर के थे—यानी उनके बीच बराबर से उठ-बैठ सकते थे, स्वाभिमानी थे, निडर थे, बहुत पढ़े-लिखे थे और व्यंग्य और हाज़िरज़वाबी में माहिर थे। राजनीतिक कार्यकर्ता नहीं थे पर स्वाधीनता आन्दोलन के हिमायती और पोषक थे। इसी माने में ये निडर थे। ये साहित्यकार नहीं थे पर साहित्य और कला में रुचि रखते थे। इन्होंने न अपने समय को कोई आकार दिया और न उसे तय किया। मुख्य समस्या थी—स्वाधीनता, और उसको हासिल करने के लिए जिन गुणों की आवश्यकता थी उनसे ये लोग शून्य थे। अतः एक प्रकार से निरर्थक थे। इन्होंने कोई मुख्य रोल अदा नहीं किया। स्वाधीनता के बाद असली सवाल उठा देश की बागडोर सँभालने का और उसे स्थिरता और प्रगति प्रदान करने का। यह कार्य स्वाधीनता संग्राम के नायकों ने उठा लिया। वे बौद्धिक नहीं थे—यद्यपि नेहरू यह आभास रह-रह कर देते हैं पर टैगोर की तरह अकेले हैं। स्वाधीनता के बाद सहसा लगा कि अब अन्य आगे बढ़े हुए देशों की तरह हमारे देश में भी हमारे अपने यानी भारतीय राजनीतिज्ञ, भारतीय अर्थशास्त्री, भारतीय वैज्ञानिक, भारतीय लेखक और भारतीय बौद्धिक होने चाहिए। राजनीतिज्ञ और अबौद्धिक लेखक हमारे पास काफ़ी थे। वे सब तुरंत या आगे-पीछे नाम, ओहदे और तमग़े पा गये। अर्थशास्त्री और वैज्ञानिक बहुत कम थे और नये बनने में देर लगती है। इसलिए आज़ादी के बाद अन्य माँग जो आसानी से पूरी हो सकी, वह थी एक भारतीय बौद्धिक वर्ग के पैदा होने की। साहित्य, विशेषकर कविता रचयिता होने के कारण इनके पास भाषा थी। अंग्रेज़ी साहित्य और विश्वविद्यालयीय शिक्षा प्राप्त होने के कारण इनके पास चिन्तन शक्ति थी और अपनी पैरवी स्वयं करने की आत्म-निर्भरता थी। उम्र के कारण अपनी जवानी में इन्होंने स्वाधीनता संग्राम के अन्तिम पहलू में लघु-नेता या कार्यकर्ता के रूप में भाग लिया था, अतः राजनीति के साथ उन्होंने तादात्मय महसूस करने की आधारभूमि प्राप्त कर ली। पर चूँकि मन भर कर विदेशी-राजद्रोही का या राजनीति का कार्य नहीं कर पाये इसलिए एक दर्द, एक अपराध-भावना धारणा किये हुए, अपने निजी स्वार्थ से हट कर दूसरों के लिए, वाह्य कारण के लिए, अपने को न्यौछावर कर देने का लालच इनके मन में आ गया जो इनको एक निश्चित रूमानी तत्त्व प्रदान कर देता है। ग़रीब, बेपढ़ी आबादी से युक्त देश में जिस प्रतिभासंपन्न भारतीय बौद्धिक वर्ग का जन्म हुआ उसे लगा कि जैसे उसका कोई विशेष दायित्व है। यद्यपि वह दायित्व क्या है, अभी तक तय नहीं हो पाया है। वह दायित्व इस समय देश की किस मुख्य समस्या को हल कर पाएगा, इसका अन्दाज़ कोई नहीं लगा सकता। देश की कठिनाइयों की मुटाई और बीहड़ता उसकी सामर्थ्य और रुचि के बाहर है। इसमें उसका कोई ख़ास दोष नहीं क्योंकि सभी की सामर्थ्य के बाहर है। पर यह असहाय होने की भावना इस वर्ग की रूमानी प्रवृत्ति को सबसे अधिक सालती है और उसे अपने स्वाभिमान को टिकाये रखने के लिए अपनी वैयक्तिक प्रतिभा, स्वतंत्रता और रचनाशीलता को टूटने से बचाए रखने के लिए रह-रह कर प्रेरित करती है। इसीलिए ये अक्सर आत्मकेन्द्रित दीखते हैं। अक्सर ये अकेलापन महसूस करते हैं। इस अकेलेपन को छाँह में यह अपनी बातें बहुतों से न कह कर बस आपस में कहते हैं। कभी-कभी महज़ अपने से कहते हैं।

स्वाधीनता के बाद यह आवश्यकता महसूस हुई कि विभिन्न राजनीतिक पार्टियाँ अपने अपने सिद्धान्तों के अनुसार देश के भविष्य के लिए एक-एक रूपरेखा तैयार करें और आपसी भिन्नता को पहचानें और पहचनवाएँ। ४०-५० के भारतीय बौद्धिक वर्ग ने भी यह मामला आपस में उठाया और काफ़ी वाद-विवाद किया। कम्युनिस्ट होना या उसका विरोधी होना आवश्यक महसूस होने लगा। मार्क्स की अधकचरी समझ अधिकतर दोनों तरफ़ थी, पर वाद-विवाद के जोश में यह कभी कोई रोड़ा न अटका सकी। उस समय के नवलेखन संग्रहों में यह दृष्टिकोण उभारने का प्रयत्न सहज मिल जाएगा। आज वह कुछ बचकाना भी लग सकता है। एक ओर के लेखक अगर दूसरी ओर के संग्रह या पत्रिका में छप जाते थे तो उनकी जान साँसत में पड़ जाती थी। आज स्थिति उतनी नाज़ुक या सख़्त नहीं है।

जहाँ यह भारतीय बौद्धिक वर्ग प्रतिभा सम्पन्न है, औरों से भिन्न है, वहीं कुछ मामलों में यह बहुत कमज़ोर भी है। उन सभी दोषों से ग्रस्त है जिससे देश का सारा पढ़ा-लिखा समाज ग्रस्त है। उदाहरण के लिए, तर्क को समर्पित इस बौद्धिक वर्ग के सदस्य के घर में भी मुण्डन, कथा, और गेरू की लकीर से घिरा हुआ चौका दैनिक तथ्य है। देश की समस्या और निजी समस्या के अलग-अलग हल इनके पास भी हैं। उदाहरणार्थ, यह वर्ग निजी भाषा के अपनाए जाने के लिए सबसे अधिक व्यग्र है पर अपने बच्चों को मिशनरी स्कूलों में भेजता है। आदि। ख़ैर, अब प्रश्न यह है कि इसमें दोष कितनी दूर तक किसका है? अगर आज कोई बौद्धिक वर्ग उपयोगी हो सकता है तो उसके क्या गुण होने चाहिए और यह गुण इस बौद्धिक वर्ग के पास हैं, या नहीं?

जो व्यक्ति, जो समाज, जो देश जिस चीज़ को जन्म देता है, उपजाता है, निर्मित करता है, उसके लिए वह आरम्भ से ही प्रतिबद्ध हो जाता है। उसे अलग से उस चीज़ के साथ प्रतिबद्धता का रिश्ता जोड़ने की ज़रूरत नहीं महसूस होती। बहुत पहले धर्म क्षेत्र में रचनात्मक चिन्तन और निर्माण कार्य बन्द हो गया। विज्ञान ने, जिस अर्थ में हम आज उसे समझते हैं, हमारे यहाँ जन्म नहीं पाया। अतः धर्म और विज्ञान का कोई वास्तविक द्वन्द्व हमारे यहाँ नहीं हुआ। जैसा पश्चिम में हुआ। जिसका बहुचर्चित एक उदाहरण गैलीलियो है। इस चुनौती के अभाव में धर्म को अपने को पुनः परिभाषित करने की आवश्यकता नहीं महसूस हुई। विज्ञान को आने में कोई कठिनाई नहीं हुई। अतः हम धर्म को रूढ़िग्रस्त संस्कार के रूप में बचाए रहे और विज्ञान का स्वागत और आयात करते रहे। दोनों के बीच चुनाव नहीं करना पड़ा। धर्म की आदत पड़ गयी इसलिए परिभाषा धुँधली हो गयी, लगने लगा वह हमारे अन्दर है और हम सभी शिक्षित या अशिक्षित उसे जानते हैं। विज्ञान की न परम्परा थी, न उसके निर्माण में हमने भाग लिया, इसलिए न उसकी माँगों को हमने गहरायी से समझा और न इसकी आवश्यकता महसूस की कि उसको स्वीकार करने के लिए हमें कुछ बहुत निजी विश्वासों को त्याग देने की ज़रूरत है। वह उपयोगी सूचना और साधन बन कर रह गया। धर्म का आन्तरिक ज्ञान घिसा-पिटा और निर्जीव हो गया और विज्ञान की वाह्य सूचना-प्रधान मान्यताएँ आधुनिकता के नाम पर स्वीकार कर ली गयीं। सहजज्ञान और विवेकपरक तत्त्व, दोनों आराम से, बिना एक-दूसरे का प्रतिरोध किए हुए इसलिए निहायत गतिहीन स्थिति में, हमारे अंग बन गए। इसने

हमें बेहिसाब अन्तर्विरोधों के बीच रहने के लिए तैयार कर दिया। इनके प्रति हम एक प्रकार से अन्धे हो गए। ४०-५० का भारतीय बौद्धिक वर्ग, सारी प्रतिभा के बावजूद, इससे बच नहीं सका। वह गौरवमय अतीत के प्रति मोह और नये के स्वागत के बीच अपनी रूमानी प्रवृत्ति के सहारे सेतु बनाता रहा, बनाता रहा। धर्म के महन्त एक ओर विज्ञान को खतरनाक, अधूरा ज्ञान और विदेशी साबित करते रहे और दूसरी ही साँस में वैदिक चिन्तन को सबसे अधिक वैज्ञानिक और उसकी सारी खोजों को पूर्वाभासित करने वाला करार देते रहे। दूसरी ओर बौद्धिक, शिक्षा मन्त्री, अर्थशास्त्री और वैज्ञानिक अँगूठियाँ बनबाते रहे, होमियोपैथी की दवाइयाँ खाते रहे, और बाँधों, और प्रयोगशालाओं का वैदिक मन्त्रोच्चरण के साथ उद्घाटन होता रहा।

इस अपार्थिव वातावरण में लगा कि कहीं भी आस्था रखना नामुमकिन है। न धर्म में, न विज्ञान में। एक ही चीज़ थी जो बिल्कुल हमारी थी। हमने उसका निर्माण किया था। वह थी हमारी कविता। हमारा साहित्य। हमारी समस्त रचनाशीलता का जैसे वही गुरुत्वाकर्षण केन्द्र बन गया। वही भारतीय बौद्धिक की आस्था का ठिकाना बन गया, उसका धर्म बन गया। वहीं वह अपना परमसंतोष पाने लगा और वहीं से अपने को परिभाषित करने लग गया। बौद्धिक होने की आवश्यक शर्त लेखक होना हो गया।

इस पृष्ठभूमि में उपजी साहित्य रचना कुछ प्रगति के बाद अन्तर प्रतिबिम्ब और आपसी हवालिया वाला होने लगी और यथार्थ से दूर हटने लग गयी। देश की वास्तविक स्थितियों और अन्तरविरोधों को नापना स्वीकार न करके वह अकेलेपन और अन्तर की गहराइयों को नापने में लग गयी। बौद्धिकता और विवेक जैसे एक अलग खाने में बन्द कर दिए गये जो वाद-विवाद में ज़रूरत पड़ने पर तर्क उपस्थित करें और कविता अकेलेपन के अयथार्थ-स्थान को उभारने में विलीन हो गयी। गतिहीन सहअस्तित्व की एक और तह पड़ गयी, फलस्वरूप, परिमार्जित होना, ऐतिहासिक होना, रचना का गम्भीर दिखना, गुण माने जाने लगे। इनके रचयिता अधिकतर आर्थिक दृष्टि में सम्पन्न थे, उच्च शिक्षा प्राप्त थे। रूमानी रुझान के कारण एक सभ्य भारतीय बौद्धिक वर्ग अपने दायित्व की तलाश में डोलने लगा। दूसरी ओर देश में दरिद्रता और उसके साथ आने वाले तमाम दोष बढ़ने लगे। १९६० के आसपास एक बहुत बड़ा ऐसा लेखक वर्ग बना जो डिग्री प्राप्त नहीं था। ग़रीबी में पला हुआ था। कारखानों, छापेखानों, शहरों में मिलने वाले छोटे-मोटे धन्धों, देश में होने वाले अनेक कारबारों के बीच जो किसी तरह जी रहा था और लिख रहा था। वह यह महसूस करने लगा कि ४०-५० के बौद्धिक वर्ग से उसका कोई लेन-देन नहीं हो सकता, क्योंकि उसकी समस्याएँ, उसके दैनिक जीवन की घटनाएँ और उनसे अनुरूपित उसकी रचनाएँ बिल्कुल भिन्न हैं। बिना खाए, एक कमरे में तमाम बच्चों, आदमियों, औरतों से घिरे, सीलन और अँधेरे में बैठे, उसे बौद्धिक साहित्यिक चिन्तन एक विलास लगने लगा। अयथार्थ और अनैतिक लगने लगा।

वर्गीकरण बढ़ने लगा। आज एक आयु के लोग दूसरी आयु के लोगों को निरा अजनबी पाते हैं। ४०-५० के बौद्धिक और आज के नये लेखक एक दूसरे से बातचीत करने में असमर्थ हैं। धार्मिक और वैज्ञानिक एक-दूसरे से भिड़ने के लिए सामान्य ज़मीन नहीं पा रहे हैं।

आमना-सामना कहीं नहीं है। गति-विहीन सहअस्तित्व ने सारे देश को जकड़ लिया है। शिक्षा के अभाव में दक्ष हाथों की कमी है जो आज की मशीनों को चला सकें, बना सकें। शिक्षा के अभाव में सन्तति निरोध का आयोजन असफल हो गया है। शिक्षा के अभाव में लोग खेती के नये ढंग पूरी तरह से अपना नहीं पा रहे हैं और न ही दूसरी अधिक उपजाऊ ज़मीन की खोज में अपने पुरखों के गाँवों को छोड़ने का साहस या सूझ पैदा कर पा रहे हैं। शिक्षा के अभाव में देश के एक प्रतिशत से भी कम लोग सर्जनात्मक कार्य में भाग ले पा रहे हैं। जो जहाँ काम कर रहा है, वहाँ ज़रूरत के अनुसार नया औज़ार या ढंग तज़वीज़ कर लेने की बात उसके सोचने की दिशा के विपरीत है। तमाम प्रतिभा निष्क्रिय और निरर्थक रही जा रही है। अज्ञान बढ़ता चला जा रहा है। प्रतिभा प्रदर्शन का मौक़ा एक बहुत छोटे-से वर्ग को ही मिल पा रहा है जो अनुपयोगी विशेषज्ञों को पैदा कर रहा है। जिनके सिद्धान्त और जिनकी बातें एक सीमित दायरे के आनन्द और उपभोग के लिए हैं। जिनका ज्ञान इतना सूक्ष्म और परिमार्जित है कि साधारण लोगों की समस्याओं को हल करने के लिए उन्हें लगाना उनका अपमान करना है। उन्हें न समझना है। वे ही एक-दूसरे को समझें। भारतीय बौद्धिक भी साहित्य के ऐसे ही विशेषज्ञ हैं, जिनके गुणग्राहक वे खुद ही हैं।

इस लम्बे वर्णन को अन्त करने के लिए स्थिति को हम इस प्रकार रख सकते हैं। धर्म, विज्ञान और साहित्य ने अपने-अपने क्षेत्रों में प्रतिभाशाली विशेषज्ञों के गुट पैदा किए हैं। ये गुट एक-दूसरे से वार्तालाप करने में असमर्थ हैं क्योंकि इनमें कोई द्वन्द्व की सम्भावना नहीं हुई। ये गुट अपनी खोजों को नीचे सारे समाज में फैलाने में असमर्थ हैं क्योंकि शिक्षा के अभाव में यह ना-मुमकिन है। इस स्थितिवश इन गुटों का कोई विशेष दायित्व नहीं हो सकता। बल्कि यह गुट समाप्त हो जाएँ, न रहें तो अच्छा है। विशेषज्ञ होने के नाते ये ज़्यादा जगह लेते हैं, ज़्यादा मान पाते हैं, ज़्यादा सुविधाएँ खर्च करते हैं, और बदले में अपने खास तरह के अकेलेपन के दर्दों और कोरे सिद्धान्तों के अलावा कुछ भी नहीं देते। यह समाज से लेते ही लेते हैं, देते कुछ भी नहीं।

निश्चय ही इन सारे विशेषज्ञों को एक पंक्ति में खड़ा करके गोली से उड़ा नहीं दिया जा सकता। पर उन्हें अपनी सुनहरी मीनारों से बाहर झाँकने के लिए मजबूर किया जा सकता है। या ऐसा वातावरण पैदा किया जा सकता है जहाँ यह मुमकिन हो सके। पहला क़दम होगा कि विशेषज्ञ आपस में वार्तालाप शुरू करें। एक-दूसरे को सुनना-समझना आवश्यक मानें। आज विज्ञान के अज्ञान में कोई भी अपने को बौद्धिक कहे तो हास्यास्पद ही होगा। ऐसे पत्र हों जहाँ न केवल लेखक वर्ग के बौद्धिक अपने को अभिव्यक्ति करें वरन् अन्य क्षेत्रों के विशेषज्ञ भी उनमें लिख सकें, इन्हें पढ़ें। ऐसा मंच हो, जैसा आज यहाँ प्रस्तुत है, जहाँ लेखक के अलावा और विषयों के लोग भी हों। यह आदान-प्रदान अच्छे विचारों से भी अधिक ज़रूरी है। इससे परि-प्रेक्ष्य ठीक बना रहता है और ताज़गी के लिए अवसर और सामान मिलता रहता है। इसके अलावा इन विशेषज्ञों और राजकीय प्रशासकों के बीच वार्तालाप चलना चाहिए। शिक्षा या अन्य सुविधाओं को फैलाना, जिनके सहारे विशेषज्ञ अपनी खोजों को सारे समाज तक पहुँचा सकें, इनका दायित्व है। जिस रास्ते में यह मुमकिन होगा उसी रास्ते से स्थान-पर-काम करने

वाला अपने प्रश्नों और अपनी कठिनाइयों को विशेषज्ञों तक पहुँचाएगा। तब सारा देश निर्माण कार्य में रचनात्मक भाग ले सकेगा। ऐसा वातावरण पैदा करना आज की चुनौती को स्वीकार करना है। भारतीय बौद्धिक वर्ग को अपना अन्तिम रूमानी कार्य यही करना पड़ेगा कि वह इस वातावरण को पैदा करने के लिए अपनी अलग हस्ती को मिटा दे, अन्य विशेषज्ञों के गुटों में जाकर मिल जायें, और उन्हें आपस में पास ले आये।

———

आधुनिकता के सन्दर्भ में भारतीय बुद्धिजीवियों की भूमिका

—हरिश्चंद्र श्रीवास्तव

आधुनिकता की परिभाषा कठिन है। कहीं इसका अर्थ होता है जो कुछ परम्परागत है उसका निर्ममता से विरोध करना। कुछ इसे अनियमित स्वतंत्रता मानते हैं। समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से उद्योगीकरण से होने वाला व्यापक परिवर्तन आधुनिक है। कुछ आधुनिकता से एक विशेष प्रकार की मानवतावादी अवधारणा को स्वीकार करते हैं। वर्तमान लेखक के लिए मानवतावादी लक्ष्यों को प्राप्त करने की विवेकशील प्रवृत्तियों का समर्थन आधुनिकता है। 'मानवतावादी' और 'विवेकशीलता' दो मुख्य पदों की व्याख्या करनी अगर आवश्यक हो तो मानवतावादी की परिचालक-परिभाषा में संयुक्तराष्ट्र के चार्टर को स्वीकार किया जा सकता है। केवल उसमें इतना जोड़ना मुनासिब होगा कि शोषक के ख़िलाफ़ संघर्ष करना भी मानवतावादी क़दम है। 'विवेकशीलता' उसी को कहेंगे जिससे मानवतावादी लक्ष्यों की प्राप्ति होती हो। इन दो पदों की व्याख्या में बुद्धि के करिश्मे दिखाये जाते है मगर तर्क केवल साधन मात्र है। 'क्यों' का प्रश्न भी एक सीमा के बाद निरर्थक हो जाता है और इस निरर्थक को छूना कहीं-कहीं उच्च कोटि की आधुनिकता मानी जाती है। निरर्थकता से सार्थकता की ओर चलना भी एक आधुनिक प्रवृत्ति है। यों तो हर युग की आधुनिकता की विशेषताएँ हुआ करती हैं मगर औद्योगिक युग की आधुनिकता की बुनियादी प्रवृत्ति 'प्राप्ति-उन्मुखता' है सामाजिक स्तर और भौतिक-वस्तु-केन्द्रित आधुनिकता ने इस युग के बुद्धिजीवियों को आकर्षित कर लिया है। व्यक्ति-परक रूप में आधुनिकता अनास्था होकर रह गई है।

आधुनिकता के सन्दर्भ में भारतीय बुद्धिजीवियों का दायित्व विशिष्ट वर्ग-व्यवहार की व्याख्या द्वारा समझा जा सकता है। समाज को विशिष्ट या छोटे-छोटे सक्रिय समूह बदलते हैं। विशिष्ट वर्ग की अवधारणा से एक प्रकार के सामाजिक स्तर और दायित्व का बोध होता है।

पश्चिम की सामाजिक-राजनीतिक अनुभूति में पनपी हुई आधुनिकता भारतीय साहित्यकारों ने ओढ़ ली है। वे धार्मिक रूढ़ियों, तानाशाही, पूंजीवादी शोषण के विरोध में आधुनिक हैं। हमारे यहाँ यह प्रवृत्ति राजा राममोहन राय से शुरू होकर गाँधी-युग तक आती है। इस युग के प्रगतिशील साहित्यकारों को परम्परावादी-रूढ़िवादी कहकर वर्तमान युग के कुछ साहित्यकार आधुनिक होना चाहते हैं और एक दूसरे पर मनुष्य-भक्षियों की तरह झपटते हैं। आधुनिक

साहित्यकारों का एक समूह आधुनिक होने के जोश में 'सेक्सी-थीम' के अलावा हर प्रयास को पुराना मानता है। दूसरा समूह 'प्रगतिशीलता' के नुस्ख़ों पर आधुनिकता का 'लेबुल' लगाना चाहता है। तीसरा समूह उखड़ी-कुंठित-अकेली ज़िन्दगी के चित्रण को आधुनिकता मानता है। जबकि यह अवधारणाएँ 'लेज़ाजफेयर' व्यवस्था की उपज हैं और भारतीय नियोजित-कल्याण राज्य-व्यवस्था में कभी उसी रूप में नहीं उभरेंगी जिस रूप में आधुनिक साहित्य इसकी कल्पना करता है। आधुनिक साहित्यकारों का एक समूह अस्तित्ववादी दर्शन से प्रभावित हुआ है जिनके अनुसार 'संसार' मनुष्य के रहने योग्य स्थान नहीं है। वह अजनबी की तरह रहने के लिए मजबूर है। ख़ुदकुशी इसलिए नहीं करता कि निरर्थकता के बोध के मुक़ाबले उसे ज़िन्दगी से मोह है।

आधुनिक साहित्यकारों ने निःसन्देह सशक्त रचनाएँ प्रस्तुत की हैं और पूँजीवादी समाज की बेदर्दी से आलोचना भी की है मगर दिशा सांकेतिक और परिवर्तनोन्मुख न होने के कारण केवल रूमानी चुनौती हो कर रह गयी है। निराशा को ग़लत धाराओं में मोड़कर यह साहित्य अप्रत्यक्ष रूप से शोषक वर्ग की सत्ता बनाये रखने में मदद करता है। लेकिन ख़ूब छपता है, और बिकता है। साहित्यकार इस आधुनिक साहित्य को रचकर लाभान्वित है। समाज के प्रति दायित्व में प्रतिबद्धता है। आधुनिक बुद्धिजीवी प्रतिबद्धता से घबराता है क्योंकि उसे हर प्रतिबद्धता में हिटलर की मूँछें और स्टालिन की सुलगती हुई पाइप नज़र आती है, साहित्य में आधुनिकता एक विकृति होकर रह गयी है। इस विकृति के कुछ कारण हैं, कलाकार ने कुछ दिनों तक प्रत्येक वाद का साथ देकर उसमें कमी महसूस की है। संसार की सामाजिकता उसे अतार्किक तथा निरर्थक लगती है। वह संसार को न समझ पाता है न बदल पाता है। इस निष्क्रिय प्रवृत्ति के शिकार केवल साहित्यिक उच्च वर्ग ही नहीं बल्कि वैज्ञानिक तथा समाज-वैज्ञानिक उच्च वर्ग हो गये हैं।

विश्वविद्यालयों एवं उनकी परिधि में विकसित होने वाला वैज्ञानिक तथा समाज-वैज्ञानिकों का विशिष्ट वर्ग है। दो महायुद्धों के विध्वंस से यह इतना भयभीत है कि 'मुझे मत छुओ' की तख़्ती लगा कर अपने विज्ञान की सेवा में लगा रहता है। समाजोपयोगी होना, नीति-निर्माण में भाग लेना राजनीतिक दलदल में फँसाता है और उसके वैज्ञानिकों के प्रयासों को विकृत करता है। यदि इस विशिष्ट वर्ग ने दुनियाँ को बदलने की चेष्टा की तो वह राजनीतिज्ञों के अधीन हो जाएगा। इस डर से वह स्वयं को समाज से ही नहीं बल्कि ऐतिहासिकता से भी दूर रखना चाहता है। वैज्ञानिक वर्ग का पश्चिम तो व्यवहार के क्षेत्र में आकर सार्थक हो जाता है, परन्तु समाज-वैज्ञानिक का आँकड़ेबाज़ी पर आधारित परिश्रम, कुछ अंशों में सतही सामान्यीकरण होकर रह जाता है। परन्तु पद, वेतन, यश और शक्ति प्राप्त करने के लिए यह वर्ग सक्रिय रहता है।

राजनीतिक विशिष्ट वर्ग अपने जनतांत्रिक उत्तरदायित्व को निबाहने में असमर्थ प्रतीत होता है। स्वतंत्रता से पूर्व भारतीय राजनीतिक 'एलीट' की भूमिका स्वार्थरहित होकर क़ुर्बानी करते हुए निर्धारित लक्ष्यों को प्राप्त करने की थी, परन्तु स्वतंत्रता के पश्चात् जब उसके क्रियान्वय का समय आया तो उसने आदर्शों से भटक कर शक्ति प्राप्त करने के हथकंडे अपना

लिये। शक्ति और पद प्राप्त होकर कभी हाथ से न निकलें, इसी महती इच्छा पर हमारे राजनीतिक विशिष्ट वर्ग की सक्रियता निर्भर करती है। सत्तारूढ़ दल ने, गुटबाज़ी के हथकंडे से पद, धन, स्तर और यश प्राप्त करना चाहा है। वामपंथी राजनीतिक 'एलीट' ने निश्चित और स्पष्ट लक्ष्यों के अभाव में नारेबाज़ी करके भारतीय जनता के साथ बेवफ़ाई की है। जिस मात्रा में जनता की दृष्टि में राजनीतिक विशिष्ट वर्ग की मर्यादा घटी है उसी मात्रा में इस वर्ग की भूमिका का स्तर भी गिरा है।

सामाजिक-श्रेणी-शृंखला के अन्धेपन का शिकार भारत का नौकरशाही वर्ग है इसे 'मोटरकार वर्ग' कहना उचित होगा। स्वतंत्रता के पश्चात् नौकरशाही के चरित्र में मध्यवर्गीय विशेषताएँ आ गयी हैं। मध्यम-वर्ग उच्च-सामाजिक स्तर प्राप्त करने की इतनी प्रबल प्रवृत्ति रखता है कि अपने आसपास की दुनियाँ के यथार्थ से भी विमुख हो जाता है। अपनी नौकरी या आर्थिक सुरक्षा के लिए भारतीय नौकरशाही कुशल है। सत्तारूढ़ राजनीतिक विशिष्ट वर्ग से हर स्तर पर उसका गठबन्धन है। दोनों मिल कर स्वार्थ-सिद्धि में लगे हुए हैं। इनका सम्बन्ध भारतीय समाज के यथार्थ से बहुत कम है। भारतीय नौकरशाही का कोई भी लगाव विश्वास-योग्य नहीं। न वह उचित रूप से आधुनिक है, न उसका स्वभाव जनतांत्रिक पद्धतियों के अनुकूल हैं। वह केवल प्राप्ति-उन्मुख है।

भारतीय बुद्धिजीवियों का एक बड़ा तबक़ा सफ़ेदपोश की श्रेणी में आता है। भारतीय सफ़ेदपोश लक्ष्यहीन और शक्तिहीन हैं। वह समाज की गतिविधियों के दिशा-निर्देशन का साहस नहीं रखता। केवल जीना, थोड़ी बहुत आर्थिक सुरक्षा प्राप्त करना, बढ़ती हुई मँहगाई में जीवन-स्तर को बनाये रखना, उसके अस्तित्व के मुख्य उद्देश्य हैं। आधुनिक संगठनात्मक परिस्थितियाँ इतनी जटिल हैं कि सफ़ेदपोश वर्ग का बुद्धिजीवी स्वयं को अनिवार्यतः शक्तिहीन पाता है। शक्तिहीनता ही उसकी उदासीनता का कारण है।

भारत के नवीन 'एलीट' की भूमिकाओं के विश्लेषण से यह निष्कर्ष नहीं निकालना चाहिए कि उनमें प्रगतिशील और रचनात्मक तत्व नहीं हैं। यहाँ पर उनकी भूमिका की उन प्रबल प्रवृत्तियों की ओर संकेत दिया गया जो उन्हें अनुत्तरदायित्वपूर्ण बनाकर केवल प्राप्ति-उन्मुख करती हैं। अगर हम भारतीय बुद्धिजीवी आन्दोलन की तरफ़ ग़ैर-रूमानी दृष्टि डालें तो हम पाएँगे कि वह बुद्धिजीवी-वर्ग, जिसको हम आधुनिकीकरण का उत्तरदायित्व सौंपना चाहते हैं, विलीन हो चुका है। इस टिप्पणी के आधार पर कुछ विचारयोग्य समस्याएँ इस तरह की हो सकती हैं :

(१) आधुनिकता के सन्दर्भ में, विशिष्ट वर्ग की ग़ैर-ज़िम्मेदारी की भूमिका को देखते हुए, क्या विशिष्टवाद को अब भी आवश्यक समझा जा सकता है ?

(२) आधुनिकीकरण की प्रक्रिया के परिचालन में छोटे-छोटे समूहों की क्या भूमिका हो सकती है ? क्या वे विशिष्टवाद का पर्याय हो सकते हैं ?

आधुनिकीकरण क्या नहीं है ?

—प्रमोद कुमार गुप्त

भारत के आधुनिकीकरण की परिभाषा का एक तरीक़ा यह भी है कि यह देखा जाए कि आधुनिकीकरण क्या नहीं है ? इस पर्चे में मैंने यह तरीक़ा चुना है। तो आधुनिकीकरण क्या नहीं है ? इसके साथ ही कई और सवाल उठ पड़ते हैं। क्या जो कुछ नया है सबका सब आधुनिक है ? या पुराना मात्र त्याज्य है ? और नये मात्र की स्वीकृति और पुराने की सम्पूर्ण अस्वीकृति ही आधुनिकता है ? दूसरा सवाल उठता है कि क्या पश्चिमीकरण ही आधुनिकीकरण है ? क्या आधुनिकीकरण किसी ख़ास देश-काल की एक उपज है ? या यह एक तरीक़े से या एक सा हुआ है ? या हो रहा है। इसी सवाल के साथ स्वभावतः यह बात आती है कि क्या सोवियत रूस और अमरीका की तरह भारत में भी भारी औद्योगीकरण हो सकता है ? क्या आधुनिक काल की सभी देशों में एक ही सी प्रवृत्ति होती है ? पाश्चात्य जीवन-प्रणाली, विचार-दर्शन, तकनीक, सामाजिक संगठन को यथावत स्वीकार कर लेना या मान लेना ही क्या आधुनिक होना है ? इन सारे प्रश्नों को हम क्रम से लें : पहले तो केवल नया मात्र ही आधुनिक नहीं होता। नयी तो बहुत चीज़ें होती हैं। नयेपन के साथ जब एक मूल्य-निर्णय भी जुड़ जाता है तो वह आधुनिक कहा जा सकता है, अन्यथा नहीं। सभी नया सत् नहीं होता और सभी पुराना असत् नहीं होता। विवेक की धार देश-काल-परिस्थिति के अनुसार बराबर सत्-असत् का चुनाव करती रहती है। परम्परा के अन्तर्विरोधों के कारण, घात-प्रतिघात के बाद संघात की उत्पत्ति होती है। यह एक प्रक्रिया है। अतः संपूर्ण परम्परा को ध्वस्त करके कोई नयापन आता नहीं और न तो परम्परा की स्वीकृति मात्र ही नयापन है। इसमें भी वही क्रम चलेगा।

जो है, इसीलिए कि वह है, उचित है और अपरिहार्य है, अतः वह आधुनिक है इसे जस-का-तस मान लेना भी आधुनिकता नहीं है। या जो होना चाहिए वही सब कुछ है यह मानना भी ठीक नहीं। अतः जो है और जो होना चाहिए उसके बीच सेतु बनाना ज़रूरी हो जाता है। आधुनिकता की यह माँग है कि हम सत्य को उसके पूरे आयाम में देखें और फिर जो है उस पर से जो होना चाहिए, की ओर चलें : 'जो नहीं है उसका ग़म क्या ?'

दूसरा प्रश्न उठता है कि क्या पश्चिमीकरण ही आधुनिकीकरण है। तो जवाब साफ़ है : नहीं। क्योंकि भारत में न तो पश्चिमीकरण सम्भव ही है और न श्रेयस्कर। बड़े पैमाने के यन्त्रीकरण का विकास गोरी जातियों के साम्राज्यवादी विकास की उपज है। भारत के लिए यह इतिहास दुहराना सम्भव नहीं। इंग्लैण्ड जैसे छोटे टापू को अपने औद्योगीकरण के लिए

भारत सहित इतने बड़े साम्राज्य की आवश्यकता पड़ी, तो भारत को उसी प्रकार का औद्योगीकरण करने के लिए कितने बड़े उपनिवेश की ज़रूरत पड़ेगी ? ज़ाहिर है, इसके लिए तो पूरी पृथ्वी भी पर्याप्त नहीं। यह बड़े यन्त्रीकरण का दर्शन उन देशों में विकसित हुआ है जहाँ पूँजी अधिक, श्रम कम, आदमी कम और काम ज़्यादा रहा है। पर भारत में स्थिति इसके विपरीत है। जनसंख्या, पूँजी आदि की दृष्टि से। बड़ी मशीनें जनशक्ति को बेकार करती हैं। छोटी आबादी वाले देश में बड़े उद्योग और उनकी टेकनालाजी उनके लिए कारगर हो सकती है। पर भारत जैसे बड़ी आबादी वाले देश के लिए यह सम्भव नहीं। उसे तो अपनी टेकनालाजी के लिए अपनी परिस्थितियों के अनुसार विचार-दर्शन बनाना पड़ेगा। तब कहीं उसके विकास का अवरोध दूर हो सकेगा। हाथों के कामों को सहायता पहुँचाने लायक़ छोटे यन्त्र, जो जनशक्ति को बल दें और उसे ज़्यादा-से-ज़्यादा उपयोगी बना सकें, इस तरह की तकनीक हमारे लिए लाभप्रद और व्यावहारिक होगी। शायद ऐसी तकनीक के विचार-दर्शन के द्वारा हमारे देश के विकास का अवरुद्ध जल एक जगह ठहर जाने के कारण जो सड़ रहा है वह फिर गतिमान हो हो उठेगा और सम्पूर्ण जीवन को प्राणवान और उपयोगी बना सकेगा। अतः तकनीक के मामले में आधुनिकीकरण के माने रूसीकरण और अमरीकीकरण नहीं।

जापान ने भी आधुनिकीकरण किया है। अपने छोटे-छोटे उद्योगों द्वारा उसने अपने देश को विकसित, समृद्ध और आधुनिक बनाया। यह प्रत्यक्ष है। जापान का आधुनिक मन अपने देश के चौखटे में बना। इसका प्रभाव जापान की कविता, कला और साहित्य के साथ-साथ आर्थिक-सामाजिक व्यवस्था में साफ़ दीखता है। दूसरे महायुद्ध में जापान के पराभव के बाद अमरीकी प्रभाव भी हम वहाँ पाएँगे पर वह प्रभाव पराजय और अणुबम के बाद का है। हालाँकि इधर जापान ने फिर अपना खोया स्थान क़रीब-क़रीब प्राप्त कर लिया और इस हद तक अमरीकी प्रभाव से मुक्त हुआ है। दासता चाहे विचार की हो या राजनीति की, अन्धानुकरण को बढ़ावा देती है। दास स्वामी का अनुकरण कर भले ही अपने को महिमान्वित करे पर वह उसका खुद का आत्म-सम्मान नहीं बन सकता। असल असल है नक़ल नक़ल।

आजकल नक़ली अन्तर्राष्ट्रीयता या विश्वयारी की बातें ख़ूब चल पड़ी हैं। अधिकतर ठहरे हुए देश के बुद्धिजीवी कहते हैं कि हमें राष्ट्रीयता से क्या मतलब ? आज के वैज्ञानिक युग में, मनुष्य—मनुष्य के इतने क़रीब आ गया है कि एक राष्ट्रीय इकाई की बात करना या सोचना पिछड़ापन है। वैज्ञानिक युग में देश की सीमा, विचारों का देशीपन, दूरी आदि कुछ रह नहीं गई है। ऊपर से यह बात काफ़ी बड़ी और उदार लगती है। किन्तु ज़रा गहराई से देखें तो बात कुछ और है।

विज्ञान जहाँ हमें एक ओर नज़दीक ले आया है वहीं दूसरी ओर इसके पीछे ठेला भी है। तैरने के सिद्धान्त के अनुसार गोरी दुनियाँ हमें पैर से पीछे मार कर आगे का जल खींचते हुए आगे बढ़ी है। एक ओर, रूस का आदमी चाँद पर जाने की तैयारी कर रहा है और उसके यान चन्द्रमा पर उतर चुके हैं। तो दूसरी ओर, भारत में उसी समय केरल में चावल की माँग के लिए लोगों ने गोलियाँ खायी हैं। विकसित देशों में जहाँ वैज्ञानिककरण हुआ है इसका उपयोग वे अपने देश को बराबर आधुनिक करने में कर रहे हैं। वहाँ के आदमी उन उपकरणों के

कर्ता और भोक्ता होने के कारण चाँद और मंगल पर पहुँचने की बात से भले ही महिमान्वित हों, पर दुनियाँ की आबादी के दो-तिहाई के लिए, एशिया, अफ़्रीका, लेटिन अमरीका के महाद्वीपों के लिए यह महिमा की बात नहीं। क्योंकि इन महाद्वीपों में वैज्ञानिक उपकरणों की छाया भी छू पायी है या नहीं ? यह एक प्रश्न है। भारत जैसे देश में जिसकी गति बैलगाड़ी युग से आगे बढ़कर साइकिल युग तक पहुँची है वहाँ 'टेक-आफ़' का विचार-व्यवहार हास्यास्पद है। इतनी बड़ी विषमता, लाचारी और ग़रीबी के बीच पले हुए देशों का सम्पन्न और आधुनिकतम उपकरणों से सज्जित देशों की सामाजिक, आर्थिक स्थितियों से समानता खोजना ही अव्यावहारिक है। अतः नक़ली अन्तर्राष्ट्रीयता (विश्वयारी) की बात करना आत्म-प्रवंचना है।

फिर भी हम मनुष्य के नाते दूसरे मनुष्य के सुख-दुःख के भागी होने की चेष्टा कर सकते हैं। किन्तु ऐसा भी अपने राष्ट्रीय बोध को बनाये रखते हुए ही तो कर सकते हैं। वास्तविकता के प्रति आँख मूँद कर हम किसी बड़ी-से-बड़ी वस्तु से सान्निध्य प्राप्त नहीं कर सकते। राष्ट्रीयता के आधार पर ही सच्ची अन्तर्राष्ट्रीयता हो सकती है, उसे भुला कर नहीं। दूसरों की सम्पन्नता हमारी सम्पन्नता नहीं हो सकती। इसका यह अर्थ नहीं कि हम विकसित देशों से उनके ज्ञान-विज्ञान को न सीखें। लेकिन यह याद रखें : सीखने और अन्धानुकरण में भेद है। इस भेद को मद्देनज़र रखते हुए हम अपने सारे सम्बन्ध स्थिर कर सकते हैं। इस बात के साथ कम्युनिस्ट चीन के विकास के प्रयास की एक घटना याद आती है। लालचीन ने जब आधुनिकीकरण करने की चेष्टा शुरू की उस समय कुछ चीनी तकनीकी विशेषज्ञ और कुछ सैनिक अफ़सर सोवियत रूस में प्रशिक्षित होने के लिए भेजे गये। वे जब कम्युनिस्ट चीन लौटे, तो उन्होंने उद्योग, यंत्र और सैनिक सज्जा के रूसीकरण की चेष्टा की। पर माओ ने इसका विरोध किया। उन्होंने स्पष्ट कहा कि यह सब चीन के लिए अव्यावहारिक है और अवांछनीय है। और आर्थिक सज्जा के विरुद्ध है। रूसीकरण करने का मतलब चीन के लिए नाश और मृत्यु के अलावा और कुछ नहीं हो सकता। माओ ने रूस से प्रशिक्षित तकनीकियों से स्पष्ट कहा कि वे अपने ज्ञान का चीन के आर्थिक और सामाजिक ढाँचे के अनुसार चीनीकरण करें तभी वह विकसित और आधुनिक ज्ञान चीन के लिए उपयोगी हो सकेगा, अन्यथा नहीं।

अब दूसरे सवालों पर नज़र डालें। इधर संकट-बोध तथा भयानक अस्त्रों के कारण आतंक, अनिश्चय, अनस्थैर्य आदि की काफ़ी चर्चा रही है। कुछ लोगों ने तो यहाँ तक कहा कि संकट-बोध ही आधुनिक बोध है। यह ठीक है कि हर देश-काल में संकट का बोध हुआ है और होता रहेगा। संकट का बोध करना और संकट-काल में सजग होकर जाग उठना यह देश के लिए शुभ है। किन्तु भारत का यह संकट-बोध यूरोप जैसा ही नहीं है। यूरोप ने दो महायुद्ध देखे। उसके तीखे, कड़वे और पैने स्वादों के बीच गुज़रा। युद्ध-काल में विराट नाश भी उसने देखा। और उसका संकट-बोध युद्ध के विनाश के कारण अनिश्चय और अनस्थैर्य में बदल गया। महायुद्ध के बाद वहाँ जो हमें उखड़ापन दीखता है वह स्वाभाविक और अनुभूतिपरक है। बड़े अस्त्रों का निर्माता अपने ही अस्त्रों से डर कर भय खाने लगा। परिणामस्वरूप वहाँ विचारों की अराजकता, जीवन के प्रति अनास्था, आक्रोश आदि का भाव सहज और स्वाभाविक लगता है। पलों में सब कुछ जी लेना, फिर दूसरे पल की बात कौन जाने ? इस प्रकार की एक

उतावली वहाँ की परिस्थितियों की देन है।

पर ठीक वही परिस्थितियाँ भारत की नहीं हैं। गुलामी के बाद जब भारत १५ अगस्त, सन्, १९४७ को स्वतंत्र हुआ तो उसके सामने आशा और विश्वास का एक नया आकाश खुला। पर ठीक इसके विपरीत उधर इंग्लैण्ड के हाथ से एक बहुत बड़ा उपनिवेश निकला और वह क्रमशः दुनिया की तीसरी शक्ति हो गया। इस तरह एक ही घटना का दो देशों पर दो तरह का असर पड़ा। फिर, इधर देश दो भागों में बँटा। साम्प्रदायिक दंगों में झुलसा। पर आज़ादी के बोध के कारण और लम्बी राजनीतिक परम्परा के कारण उसका मन बहुत टूटा नहीं। दूसरा सबसे बड़ा संकट चीनी आक्रमण का भारत ने झेला। सोया हुआ देश एक बार फिर इस धक्के से एक हद तक जाग उठा। तीसरा संकट हाल के भारत और पाकिस्तान के युद्ध का है। यह कमो-बेश नये विश्वास, आत्म-निर्भरता का भाव देने वाला हुआ। इस युद्ध ने हमें आत्म-निर्भरता और देशी ढंग से सोचने को लाचार किया। देश द्वारा निर्मित हथियारों से आधुनिकतम अमरीकी पैटन टैंक और सेबरजेट विमानों को नष्ट कर हमने समझा और अच्छी तरह अनुभव किया कि संकट-काल में हमारे देशी ढंग के विकसित साधन ही हमारी आज़ादी और अस्तित्व की रक्षा कर सकते हैं। हम इन संकटों में टूटने के बजाय जुड़े। इस तरह जैसे यह संकट-बोध पश्चिम और भारत का भिन्न है, वैसे ही इसका प्रभाव भी।

अब बड़े अस्त्रों द्वारा महाविनाश की जो कल्पना की जाती है उसके बारे में भी यहाँ कुछ विचार कर लें। स्थिति यह है कि दुनियाँ के दो बड़े देश अमरीका और रूस चाहें, तभी आणविक युद्ध हो सकता है और तभी आदमी के अस्तित्व के समाप्त होने की आशंका की जा सकती है। इतर देशों की लड़ाइयों से महायुद्ध की कोई सम्भावना नहीं। प्रमाण के लिए वियतनाम ही काफ़ी है। दूसरी बात भयंकर अस्त्रों के ये निर्माता देश अपने अस्त्रों की भयंकरता और उसके सम्पूर्ण परिणामों से परिचित होने के कारण इनके प्रयोग की कल्पना मात्र से काँप उठते हैं। हाल की राजनीति पर पैनी नज़र डालने से दिखाई पड़ेगा कि ये दो विरोधी लगने वाले देश अब जैसे युद्ध न करने तथा झगड़ों को आपसी बातचीत से हल करने की ओर बढ़ रहे हैं, जाने या अनजाने एक दूसरे के निकट आये भी हैं। माओ का कहना एक माने में सही है कि पूँजीवादी अमरीका और संशोधनवादी रूस दोनों मिलकर विश्व-प्रभुत्व क़ायम करना चाहते हैं। जो हो, इसके चलते इन अस्त्रों के प्रयोग की बात दूर की होती जा रही है। फिर भी भारतीय बुद्धिजीवी आणविक धुएँ की बात धुंआधार करते हैं। इन्होंने साधारण बम के विस्फोट भी नहीं देखे हैं। दूसरे द्वारा भोगी हुई अनुभूति जो हमारे देश-काल-परिस्थिति के चौखटे में नहीं है उसे अपनी प्रथम व गहरी अनुभूति मानकर आणविक धुएँ की बात करना अपने ज्ञान का अपच ही प्रगट करना है। इसलिए ज्ञान भी सम्यक होना चाहिए। क्योंकि असम्यक ज्ञान विचार का दारिद्र्य ही देता है। और अगर कभी विश्वयुद्ध हुआ भी जो कि निकट भविष्य में सम्भव नहीं दीखता, तो वह अमरीका या रूस के चाहने पर ही हो सकेगा। तभी उस चाहे जाने वाले काल में आणविक धुएँ के देखने की बात आएगी, अन्यथा नहीं।

इस तरह आधुनिक बोध को पश्चिम के संकट-बोध से जोड़ना बेमतलब है। मेरे कहने का मतलब यह नहीं है कि देश में निराशा, टूटन, गरीबी और बेकारी आदि नहीं है। वह है

और ख़ूबं है। लेकिन एक बड़े भूखे देश की टूटन, उखड़ापन, निराशा उस देश के मुक़ाबले में जो सम्पन्न, विकसित, आधुनिकतम साधनों से परिपूर्ण हैं, भिन्न होती है। इस असाधारण भिन्नता को नज़र-अन्दाज़ नहीं किया जा सकता।

अब भारतीय मस्तिष्क के सोचने और ग्रहण करने वाले स्वभाव पर कुछ दृष्टि डालें। सगुण और निर्गुण दृष्टियों से देखने वाला यह देश अपने विचार और आचरण में इतना बेमेल हो उठा है कि वह सारी दुनियाँ के लिए एक अजूबा बन गया है। निर्गुण रूप में तो वह विश्व-समता, प्राणिमात्र में एकता, कोई भेदभाव न करने की बात करता है। यहाँ तक कि चींटी तक को चीनी खिलाता है। पर सगुण रूप में वही भारतीय मन हरिजन के प्रति घृणा, छुआछूत, ऊँच-नीच, औरत और मर्द में बहुत बड़ा फ़र्क़ तथा भेद-भाव की बहुत बड़ी खाईं रखता है। उसका यह दो-तरफ़ा व्यक्तित्व उसे ढोंग, झूठ, आचरणहीनता की ओर ले जाता है। राजनीति से सामाजिक व्यवहार तक यह दो जीभ वाला व्यक्ति कथनी और करनी में फ़र्क़ डालता हुआ एक विराट भ्रम, नक़ल, सड़ाँध का भागी बनता जा रहा है। निर्गुण में तो वह आदर्शों वाला व्यक्ति दीखता है और सगुण में उन्हीं आदर्शों का हत्यारा। इसका प्रभाव हमारे भारतीय जीवन पर काफ़ी प्रत्यक्ष हैं। इस दुहरे व्यक्तित्व के कारण भारत में जो आधुनिकता दीखतो है वह ऊपरी और सतही है।

इस बँधे हुए जल में कुछ हलचल हो, टूटे, उखड़े तो बड़ी बात बने। पर वैसा कुछ हो नहीं रहा है। इधर हिन्दी के कुछ साहित्यकार अपने को उखड़ा हुआ कहते हैं। और परम्पराओं के विरुद्ध प्रहार करने वाले घोषित करते हैं। अगर ऐसा सही माने में होता तब भी कुछ नयी बात बनती। बातों से उखड़े, टूटे, परम्पराओं के विद्रोही जान पड़ने वाले ये साहित्य-कार आचरण में काफ़ी जमे, स्थिर और जैसे परम्पराओं को यथावत् ढोते रहने के आदी हैं। ये उखड़े लोग विश्वविद्यालयों, रेडियो, प्रकाशनों, अनुवादों के कामों में इतने जमे हुए हैं कि शायद इसके पूर्व हिन्दी में इतने जमे हुए लोग नहीं थे। हाँ, ये कभी-कभी नौकरियों से हट जाने, रेडियो द्वारा कोई प्रोग्राम न मिलने के कारण कुछ दिनों के लिए भले ही उखड़ जाएँ पर अन्ततोगत्वा ये कहीं-न कहीं आधुनिक तिकड़मों से फिर अपने को जमा ही लेते हैं। जाति, विवाह तथा मृत्यु संस्कार की विधियों को प्रायः परम्परागत रूप में चलाते रहते हैं। इसलिए यह जो उखड़ापन है वह पहले तो असली नहीं है। और फिर यह भारत के आधुनिकीकरण का प्रथम चरण तो हर्गिज़ नहीं है।

जो हो, देश का अवरुद्ध जल फिर कसमसा कर वहीं रह जाता है। लगता है देश जोखिम की बात बहुत करता है पर जोखिम उठाने के लिए तैयार नहीं। साहसपूर्वक सगुण और निर्गुण दोनों रूपों में जोखिम उठाये बिना अवरुद्ध विकास की धारा को अनिरुद्ध करना सम्भव नहीं। और यह अवरुद्ध विकास तो आधुनिकीकरण हर्गिज़ नहीं।

आधुनिकता और भारत

सुरेन्द्र प्रसाद नारायण सिंह

विकास की स्वाभाविक महत्वाकांक्षा अतीत और वर्तमान को परिष्कृत करने की दिशा में मनुष्य को सदैव से प्रेरित करती रही है। चिन्तन एवं व्यवहार के क्षेत्र में यही आकांक्षा 'युग विशेष की आधुनिकता' की जननी रही है। इस प्रकार आधुनिकता को मानव-इतिहास के एक ऐसे 'शाश्वत एवं अन्तर्निहित आन्दोलन' के रूप में ग्रहण किया जा सकता है जो काल विशेष में कतिपय निश्चित सकारात्मक आर्थिक, सामाजिक एवं राजनीतिक उद्देश्यों के विचारात्मक, क्रियात्मक एवं संस्थागत पक्षों से संबंधित होकर भी पूर्णता-प्राप्ति में समर्थ नहीं हो पाता। इस अपूर्णता का कारण उद्देश्यों की 'स्वगत-विकासशीलता' होती है। यही कारण है ऐसे कथनों का कि 'आधुनिकता समय की वस्तु नहीं होती वरन् वह दृष्टिकोण की वस्तु होती है।'

वर्तमान युग में आधुनिकता सम्बन्धी दृष्टिकोण कुछ अधिक स्पष्ट सा हो गया प्रतीत होता है। आज भौतिक एवं मानसिक दोनों ही क्षेत्रों में वैज्ञानिक उपलब्धियों की अधिकाधिक संगति में विकास का सर्वपक्षीय प्रयास ही आधुनिकता का पर्याय बन चला है। परन्तु आज का विज्ञान ही इतनी द्रुतगति से विकासोन्मुख है कि उसके आधार पर आधुनिकता का कोई निश्चित मापदंड स्थिर किया जाना सर्वथा असम्भव है। यही कारण है कि देश विशेष से संबंधित 'आधुनिकता के स्तर' की दूसरे देश से किसी भी प्रकार तुलना नहीं की जा सकती क्योंकि वैज्ञानिक प्रगति एवं उसके अनुकूल मानसिक विकास के क्षेत्र में सभी देश सर्वथा समान रूप में ही लाभान्वित नहीं होते।

इन अर्थों में आधुनिकता शब्द का प्रयोग यूरोप में अत्यन्त हाल से होता प्रतीत होता है। बीसवीं शताब्दी के दूसरे दशक से इसके प्रति वहाँ विशेष आकर्षण एवं प्रचलन का संकेत मिलता है। भारत सहित समस्त नवोदित एवं विकासशील देशों के लिए यह शब्द उनके समस्त क्रियाकलापों का संचालक तत्त्व बन कर भी अत्यन्त नव-परिचित सा है।

आधुनिकता की अनिवार्य शर्तें—

ऐतिहासिक विकास-क्रम की उपलब्धियाँ, भूमि विशेष की अपनी आर्थिक, राजनीतिक एवं सामाजिक आवश्यकताएँ ही 'विकास के स्तर' एवं 'विकास सम्बन्धी लक्ष्यों की निर्धारक होती हैं। इस प्रकार आधुनिकता के प्रति अपनाया जाने वाला दृष्टिकोण विशेष उस देश विशेष की 'ऐतिहासिकता' की अनिवार्य एवं स्वाभाविक प्रकृति होता है। फलतः वह परिस्थि-

तियों एवं आवश्यकताओं के अनुरूप परिवर्तित भी होता रहता है। परन्तु जिन कारणों से दृष्टिकोण में विकृतियाँ एवं प्रयासों में अधूरापन उत्पन्न हो जाता है, समस्याओं का समाधान जटिल हो जाता है, ठीक उसी प्रकार, लगभग उन्हीं कारणों से आधुनिकता से संबंधित समस्त वातावरण में भी विरोधाभास उत्पन्न हो जाते हैं। यह विरोधाभास वस्तुतः विकास के संक्रमण-काल से गुजरते हुए देशों में ही देखे जा सकते हैं। 'प्रौढ़' देशों में जब भी ऐसी असंगतियाँ उत्पन्न होती हैं उनका ऐतिहासिक अनुभवों के आधार पर शीघ्र ही समाधान हो जाता है।

सैद्धान्तिक रूप से आधुनिकता की विशिष्ट विचारधारा या व्यवहार-प्रणाली की प्रतीति तीन विकल्पों से सम्भव है—(१) प्राचीनता को युग की नवीन वैज्ञानिक उपलब्धियों के अनुरूप परिवर्तित करके (२) 'वैज्ञानिकता को परम्परागत या प्राचीनता के अनुरूप परिवर्तित करके (३) प्राचीनता एवं वैज्ञानिकता का 'संवाद' प्राप्त करके। इस प्रकार के तथ्यों के आधार पर विचार करने से आधुनिकता को अतीत के अनुभव एवं आदतों को वर्तमान की आपेक्षाओं के अनुकूल आदर्शतम रूप से संबंधित करने के ऐसे प्रयास के रूप में ग्रहण किया जा सकता है जिसकी शुरुआत सर्वप्रथम वैचारिक पक्ष से है। परिवर्तन एवं नवीनता, ध्वंसात्मकता एवं रचनात्मकता इस प्रकार आधुनिकता के अनिवार्य अंग बन जाते हैं। इस प्रकार क्रियात्मक उपलब्धि के क्षेत्र में आधुनिकता तब तक सफल नहीं जब तक कि वैचारिक क्रान्ति का अनिवार्य पृष्ठभूमि के रूप में संस्थापन न हो जाए। और अधिक विचार करने पर इस प्रकार की पृष्ठ-भूमि का निर्माण भी केवल तीन मार्गों से संभव प्रतीत होता है : (१) अनुनय-विनय या स्वेच्छया स्वीकृति का दृष्टिकोण जगा कर (इसके मुख्य विकल्प शिक्षण-प्रशिक्षण या अन्य प्रकार के अबाध्यतामूलक सामूहिक रचनात्मक आन्दोलन ही हो सकते हैं। (२) राजसत्ता या समाज-सत्ता द्वारा विवश कर (३) ऐसी बाह्य भौतिक परिस्थितियाँ निर्मित कर जिससे उत्पन्न आदतों एवं आवश्यकताओं से आधुनिकता का ग्रहण अनिवार्य बन जाए।

ऐतिहासिक प्रगति के क्रम पर विचार करने से यह भी भली प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि आधुनिकता के प्रति आग्रह का सूत्रपात सर्वप्रथम सामाजिक जीवन के उन्हीं पक्षों से क्रिया-शील होता है जो सबसे अधिक महत्वपूर्ण होते हैं। परन्तु इनकी स्थिति भिन्न-भिन्न होती है। अतः ऐसी शुरुआत के बिन्दु भी विभिन्न देशों में स्वभावतः अलग-अलग देखे जा सकते हैं। आज की औद्योगिक सभ्यता का मूल कार्य-बिन्दु उत्पादन के प्रश्न हैं। अतः आज आधुनिकता का सर्वाधिक घनिष्ट संबंध आर्थिक प्रश्नों से है। इसमें दो राय नहीं होनी चाहिए।

आज का युग अन्तर्राष्ट्रीयता या बहुराष्ट्रीयता का युग है। दूसरे देश के अनुभवों एवं विचारों से लाभ उठाने की सम्भावनाएँ अधिक स्पष्ट हो गई हैं। ऐसी दशा में 'अनुकरण' को भी कभी-कभी आधुनिकता का व्यावहारिक सम्बल जीवन बनते देखा जा सकता है। परन्तु अनुकरण का प्रवाह सामाजिक जीवन के क्षेत्र विशेष में सदैव शीर्ष से आधार की ओर ही होता है। ठीक उसी प्रकार, किसी देश विशेष द्वारा भी उन्हीं मूल्यों, मान्यताओं एवं व्यवहारों का अनुकरण किया जाता है जिनकी श्रेष्ठता ग्रहणकर्ता की दृष्टि में असंदिग्ध हो। कभी-कभी या प्रायः ही एक देश द्वारा व्यावहारिक या वैचारिक क्षेत्र में स्थापित उदाहरण-विशेष इस प्रकार दूसरे देश के लिए आधुनिकता का कार्य-मापदंड बन जाता है। और कभी अधिकांश देशों द्वारा

अपनाया जाने वाला व्यवहार विशेष ही अनुकरण की इस सहज प्रवृत्ति के अन्तर्गत आधुनिकता का दिशासूचक यन्त्र बन जाता है। प्रायः ऐसी 'अनुकरण-जन्य-आधुनिकता' का देश विशेष में सूत्रपात सर्वप्रथम उन्हीं व्यक्तियों या संस्थाओं द्वारा होता है जो अपने क्षेत्र विशेष में श्रेष्ठतम स्थिति एवं शक्ति तथा प्रतिष्ठा का प्रतिनिधित्व करती हैं।

समाज का प्रत्येक क्षेत्र एक दूसरे का पूरक होता है, अन्योन्याश्रित होता है। वह एक दूसरे से सानुपातिक सम्बन्ध रखने को प्रकृति से बाध्य होता है। इन कारणों से समाज के किसी भी क्षेत्र में क्रियाशील होने वाली आधुनिकता की भावना या प्रक्रिया अनिवार्यतः अपने निकटस्थ क्षेत्रों पर अपना प्रभाव उत्पन्न करने वाली होती है। यह प्रभाव दूरस्थ क्षेत्रों में क्रमशः कम होता हुआ समाज के सर्वाधिक पिछड़े या कम महत्व के क्षेत्रों में विलीन सा हो जाता है।

मनोवैज्ञानिक एवं समाजशास्त्रीय दृष्टि से विचार करने पर आधुनिकता सम्बन्धी विशेषताएँ अपने सूक्ष्मतम अंगों में न केवल विभिन्न व्यक्तियों के मस्तिष्क एवं आचार-व्यवहार में पृथक-पृथक कलेवर रखने वाली प्रतीत होंगी वरन् प्रत्येक परिवार, समुदाय एवं सम्प्रदाय में भी एक ही काल एवं वातावरण में, एक ही प्रकार के राजनीतिक सम्बन्धों के अन्तर्गत बँधे रह कर भी उसमें भेद हो जाना सहज स्वाभाविक है। अनुवांशिक विशेषताएँ, पारिवारिक वातावरण, सामाजिक सम्बन्ध एवं विशेष रूप के कार्य, सभी इस क्षेत्र में कुछ न कुछ प्रभाव डालते देखे जा सकते हैं।

आधुनिकता का अर्थ वैज्ञानिक साधनों की सम्पन्नता ही नहीं बल्कि वैज्ञानिक दृष्टिकोण की प्रतिष्ठा, उसके प्रति जिज्ञासा एवं अन्वेषण की प्रवृत्ति भी होती है। इस प्रकार आधुनिकता को पर्याप्त रूप से आत्मसंतोष या 'यथा-स्थितिवादिता' का विरोधी बनते देखा जा सकता है। यथा-स्थितिवादिता वस्तुतः किसी विद्यमान तथ्य विशेष की ही पुष्टि करने के पूर्व निर्धारित दृष्टिकोण या उसके प्रति अविच्छिन्न अन्तरंगता के कारण उत्पन्न होती है। ऐसे मानसिक झुकाव को तब तक दूर नहीं किया जा सकता जब तक कि तटस्थ विश्लेषणात्मक दृष्टिकोण ही चिन्तन-क्रिया का संचालक तत्व न बने। फलतः इस प्रकार के चिन्तन-दृष्टिकोण को भी आधुनिकता की अनिवार्य शर्त मानना चाहिए।

तुर्की, इटली, रूस आदि के उदाहरणों से यह भी स्पष्ट होता है कि कभी-कभी उग्र राष्ट्रवाद या वर्गवाद द्वारा भी (यदि सर्वसत्तावादी नेतृत्व प्राप्त करने में सफल हो जाए तो वैसी दशा में) आधुनिकीकरण की गति भी तीव्र हो सकती है। राष्ट्रीय महत्वाकांक्षाएँ जापान जैसे देशों के लिए आधुनिकता का वरदान सिद्ध हो सकती हैं। ठीक इसी प्रकार अमरीका, आस्ट्रेलिया एवं कनाडा का उदाहरण इस प्रकार के अभिमत की स्थापना करने में समर्थ है कि श्रेष्ठ दशा में जीवन-यापन करने वाली आबादी का स्थानान्तरण (चाहे विकास सम्बन्धी समस्याएँ कितनी भी कठिन क्यों न हो) आधुनिकता के विकास की बाधा न हो सहायक ही होता है। दूसरी ओर भारत सहित उन समस्त देशों (जो हाल में ही विदेशी दासता से मुक्त हुए हैं) की वर्तमान स्थितियों का तुलनात्मक अध्ययन करने से यह भली प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि आधुनिकता के विकास की गति-तीव्रता में दासता सदैव ही बाधा का कार्य करती है। यही

नहीं चीन जैसा देश विवृत्त की प्राचीन संस्कृति, साहित्य एवं सामाजिक व्यवस्था के काले इतिहास को मिटाकर जहाँ आधुनिकता की प्रतिष्ठा करना चाहता है उसी का बड़ा भाई रूस धर्म एवं संस्कृति को सामयिक संरक्षण प्रदान कर 'सोये हुए सोवियत राष्ट्रों' को जाग्रत करने, उन्हें आधुनिकता प्रदान करने का प्रयास करते देखा जा सकता है। तात्पर्य यह कि द्रुत-आधुनिकीकरण के लिए भी अधार्मिकता या प्राचीन संस्कृति से विरक्ति ही सर्वथा अनिवार्य शर्त नहीं।

भारत में आधुनिकता

भारत की संस्कृति सदैव से ही सहिष्णु एवं समन्वयकारी रही है। फिर भी सामाजिक जीवन पर, धर्म की श्रेष्ठता पर कोई भी आर्थिक या राजनीतिक शक्ति प्रतिद्वंद्विता में विजयी नहीं हो पायी। इस प्रकार पाश्चात्य भौतिकवादी सभ्यता से सम्पर्क स्थापित होने और ब्रिटेन के राजनीतिक नियन्त्रण में आ जाने पर भी आधुनिकता की ओर भारतीय अभिरुचि का प्रथम परिचय अर्थ एवं व्यापार के क्षेत्रों में न होकर धार्मिक क्षेत्रों में ही मिलता है। धर्म के क्षेत्र में न ही आत्म-परीक्षण की प्रवृत्ति सर्वप्रथम क्रियाशील हुई। परन्तु इस परीक्षण-क्रम में ईसाइयत को आदर्श नहीं माना गया। अन्य अनेक अफ्रीकी एवं एशियाई देशों के विपरीत ईसाइयत यहाँ धर्म एवं संस्कृति की परम्परा को ध्वस्त एवं स्थानच्युत कर एवं प्रतिष्ठा में असमर्थ ही रहा। पाश्चात्य शिक्षा से अन्य सभी देशों की तुलना में अधिकतम रूप से लाभान्वित होकर भी यहाँ पश्चिम के अनुकरण की प्रवृत्ति बहुत सशक्त रूप में क्रियाशील नहीं हो पाई। अतीत को गौरव-मंडित करने का प्रयास उसे युगानुरूप आवरण प्रदान करने का प्रयास ही भारत में विशेष श्रद्धा का विषय बना। राजा राममोहन राय, स्वामी रामकृष्ण, विवेकानंद, तिलक एवं गांधी और नेहरू जैसे भी कम या अधिक रूप में इस प्रवृत्ति का पोषण करते देखे जा सकते हैं। यदि ऐसी अनुकरण की प्रवृत्ति कहीं पनपी भी तो उसे इस सशक्त धारा के आगे या तो नष्ट हो जाना पड़ा अथवा झुक जाने को बाध्य होना पड़ा।

भारत पर अंग्रेजी शासन की स्थापना शत-प्रतिशत रूप में पाश्चात्य जगत् की औद्योगिक श्रेष्ठता का परिणाम नहीं थी। ब्रिटेन द्वारा भारत की विजय मुख्यतः सैनिक एवं कूटनीतिक विजय थी। फलतः सर्वप्रथम सैनिक संगठनों को आधुनिकता प्रदान करने का प्रयास टीपू से लेकर मराठों तक समान रूप से क्रियाशील देखा जा सकता है। परन्तु १८५७ के पश्चात् इसके लिए कोई आशा नहीं बची। भारतीय राजनीति को इस प्रकार आधुनिकता की दिशा में एक नया मोड़ प्राप्त हुआ है जो 'सुधारात्मक राजनीति' के रूप में काफ़ी सीमा तक पाश्चात्य पद्धति का सहगामी था। परन्तु गांधी के आगमन के साथ समस्त भारतीय समाज को साथ लेकर चलने की समस्या ने इस तथ्य को अनिवार्य बना दिया कि राजनीतिक गतिविधियों को 'सामूहिक लोकप्रियता' प्रदान की जाए। फलतः इसके लिए यह अनिवार्य हो गया कि राजनीति का सामाजिक मान्यताओं से समन्वय हो। इस प्रकार धर्म एवं संस्कृति के समान ही भारत की राजनीति में भी ऐसी सयन्वयवादिता आधुनिकता का पर्याय बन गई है। सत्य, अहिंसा, सत्याग्रह बहिष्कार जैसे 'सीधी कार्यवाही' में प्रयुक्त होने वाले उपाय भारतीय राजनीति की

आधुनिकतम उपलब्धि बन जाते हैं (जिन्हें अमरीका जैसे पश्चिमी देशों में आज प्रयुक्त किया जाने लगा है)।

समानता, स्वतंत्रता एवं भ्रातृत्व जैसे जीवन-दर्शन के आधुनिकतम तत्वों ने प्रत्येक अन्य देश की भाँति ही भारत में भी अपने प्रभाव उत्पन्न किये हैं। समाज एवं राज्य के प्रत्येक क्षेत्र में ऐसे मूल्यों की अधिकाधिक एवं आदर्शतम अभिव्यक्ति प्राप्त करना भारत में आधुनिकता का अप्रत्यक्ष पर्याय बन गया है। परन्तु सहस्त्रों सदियों की अपनी जीवन-पद्धति का भारतीय समाज पर इतना गहरा प्रभाव है कि व्यवहार में आज भी हम इन मूल्यों को पूर्णतः प्रतिष्ठित नहीं कर पाये हैं। (कम-से-कम सामाजिक व्यवहार के क्षेत्र में) इस दृष्टिकोण के आधार पर यही कहना अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है कि भारत के सामाजिक जीवन-क्षेत्र में विधि-व्यवस्था एवं राजनीति के माध्यम से आधुनिकता का समावेश मात्र संभव हो सका है, उसकी विजय नहीं। परन्तु चतुर्दिक समाजवाद की होने वाली चर्चा इन मूल्यों के प्रति भारतीय बौद्धिक वर्ग की अन्तरंगता का सूचक है। इससे इस बात की कल्पना अवश्य की जा सकती है कि निकट भविष्य में ही भारतीय समाज का बहुमत आधुनिकता को सामाजिक व्यवहारों के क्षेत्र में भी अंगीकृत करने को प्रस्तुत हो रहा है।

अन्य एशियाई, अफ्रीकी राष्ट्रों के ऐसे समूह के विपरीत जो राजनीति की अपनी आधुनिक व्यवस्थाओं एवं व्यवहार-पद्धतियों का विकास करना चाहते हैं भारतीय राजनीति व्यवस्था एवं व्यवहार-पद्धति बहुत बड़ी सीमा तक पाश्चात्यानुगमन की प्रवृत्तियों से नियंत्रित है। विपरीत इसके पाश्चात्य ढंग की नौकरशाही एवं सैन्य संगठन प्राप्त कर भी भारत में उसे अधिक पाश्चात्यीकृत किये जाने के प्रति विशेष मोह नहीं रह गया है। कुर्सी पर बैठकर काम करने वाले नहीं वरन् व्यावहारिक क्षेत्रों में जाकर काम करने वाले जन-संपर्क को बढ़ावा देने वाले लोकसेवक ही प्रशासकीय आधुनिकता के सच्चे प्रतिनिधि समझे जाते हैं। अणु एवं उद्जन अस्त्रों का भंडार नहीं बल्कि सुधरे हुए परम्परागत हथियारों से भारतीय सेना को सुसज्जित करना आधुनिक भारतीय सैन्य व्यवस्था की संचालक नीति का मूल तत्व है। अर्थात् भारत के तत्सम्बन्धी क्षेत्रों में आधुनिकता का निर्धारक उसकी विशिष्ट परिस्थितियाँ एवं आवश्यकताएँ हैं।

असंगतियाँ

भारतीय समाज आज स्पष्टतया ऐसे दो पृथक वर्गों में बँट गया है जिसके एक छोर पर तो सामाजिक रूप से श्रेष्ठ एवं लाभान्वित व्यक्ति हैं दूसरी ओर आदिम अवस्था के अत्यधिक निकट रहने वाले आदिवासी एवं पिछड़े वर्ग। शेष समस्त जनसंख्या इन दोनों के मध्य संक्रमणकालीन अवस्था से गुज़रती हुई देखी जा सकती है। सशक्त एवं अविभाज्य सांस्कृतिक पृष्ठभूमि लेकर आने वाला प्रत्येक ऐसा भारतीय जो पाश्चात्य मूल्यों के प्रभाव में आता है, अपने व्यवहार एवं आचरण के प्रत्येक क्षेत्र में ऐसी द्वैधात्मकता विकसित कर लेता है जिसका अर्थ एक ओर तो आधुनिकता से लिया जा सकता है दूसरी ओर पुरातनवादिता से भी। चिन्तन-क्षेत्र के लिए भी वही तथ्य समान रूप से लागू देखा जा सकता है।

सार्वजनिक व्यवहार-क्षेत्रों में भी समाज प्रकृति की वैधानिकता का दर्शन किया जा सकता है। परम्परागत व्यवहार, रूढ़ियाँ एवं सामाजिक नियन्त्रण की रूपरेखा कुछ ऐसी है जिनका अन्य नवीन मूल्यों एवं नवीन ढाँचे के माध्यम से नवीन आदर्शों के लिए क्रियाशील न्याय, प्रशासन एवं आदर्शों ऐसे ही सार्वजनिक संगठनों से विरोध हो विरोध उत्पन्न होते हैं।

आधुनिकतम राजनीतिक, सामाजिक एवं आर्थिक व्यवस्था को संस्थापित करने का स्वप्न रखने वाले भारतीय संविधान की प्रतिष्ठा द्वारा राज्य, समाज एवं व्यक्ति सभी को अपनी कार्यशीलता के लिए नई दिशाएँ प्राप्त हुई हैं, नवीन विमुक्तियाँ प्राप्त हुई हैं। परन्तु उसके सर्वथा उपयुक्त ऐतिहासिक विकास-क्रम के अभाव में या तो ये परस्पर संघर्षशील हैं अथवा इनका दुरुपयोग या स्थगन हो रहा है। उदाहरणार्थ भाषा-समस्या को लेकर उभाड़ी जाने वाली विघटनवादी मनोवृत्ति।

सच पूछा जाए तो समसामयिक भारत में इस प्रकार की असंगतियों की विवेचना एवं स्पष्टीकरण करने के लिए इस प्रकार के लेख नहीं वरन् अनेक पुस्तकें भी अपर्याप्त ही रहेंगी। इस स्थल पर तो उनका संकेत मात्र ही संभव है। वस्तुतः लेख का मूलभूत दृष्टिकोण आधुनिकता के व्यापक परिवेश एवं विशेषताओं को यथासम्भव स्पष्ट करते हुए यह प्रकट करना है कि उसकी विकासशील राष्ट्रों की परिधि में क्या रूपरेखा सम्भव है? उसकी गति किस ओर है? उसके विशेष लक्षण क्या हैं? उसके विकास एवं व्यवहार की क्या रूपरेखा रही है?

भारत का आधुनिकीकरण है क्या ?

कृष्णनाथ

(१) एक ओर पर्चे में आधुनिकीकरण क्या नहीं है ? इसकी व्याख्या हुई है। आधुनिकीकरण का मतलब सिर्फ़ ताज़ा टटका या समसामयिक होना नहीं है। आधुनिकीकरण इतिहास के किसी एक ख़ास तौर पर पश्चिम के पिछले डेढ़-दो-तीन सौ वर्षों से नत्थी नहीं है। भारत के आधुनिकीकरण का मतलब पश्चिमीकरण तो हर्गिज़ नहीं है। और न बड़े पैमाने का औद्योगीकरण ही आधुनिकीकरण है। इसके अलावा संसर्ग-आधुनिकता, कुछ प्रतीकों को ओढ़ लेना भी आधुनिकता नहीं है।

माना यह सब आधुनिकीकरण नहीं है। लेकिन अब प्रश्न तो यह है कि आख़िर भारत का आधुनिकीकरण है क्या ? यह भारतीय परम्परा से किस हद तक भिन्न-अभिन्न है ? आधुनिक भारतीय मिज़ाज की क्या विशेषता है ? परम्परागत दृष्टि में क्या दोष है ? आधुनिक भारत में क़द्र का पैमाना क्या होगा ? भारत की आधुनिकता में सत्य का स्वरूप क्या होगा ? और आधुनिकीकरण में स्वतन्त्रता की क्या भूमिका है ? क्या जोखिम बिना भी भारत का आधुनिकीकरण हो सकता है ? और अन्त में, क्या अपने मध्यमवर्गीय चरित्र के चलते भारतीय बुद्धिजीवी वर्ग यह जोखिम झेलने के लिए तैयार है ? और अगर नहीं तो फिर भारत के आधुनिकीकरण में इस वर्ग की क्या भूमिका रह जाती है ?

तो यह कुछ प्रश्न इस सिलसिले में हैं। इन्हें एक-एक कर लें।

(२) पहले तो भारत के आधुनिकीकरण के लिए देश के लगभग ५० लाख बुद्धिजीवियों के साथ-साथ करोड़ों देशवासियों में इस परिवर्तन का एक संकल्प ज़रूरी है। इस संकल्प के लिए भारत के आधुनिकीकरण की एक दृष्टि का होना ज़रूरी है। एक सपना देखते रहना ज़रूरी है। एक छवि का उभरना भी।

यहाँ शुरू में ही एक शंका है। इस दृष्टि या स्वप्न या छबि का क्या काम ? कहीं सपने के मुताबिक़ कोई देश या वर्ग या व्यक्ति गढ़ा जा सकता है ? क्या किसी पहले से गढ़े-गढ़ाये आधुनिकीकरण के साँचे में देश या बौद्धिक वर्ग को ढालना सम्भव और श्रेयस्कर है ? लेकिन यह तो बाद की बात है। पहले तो क्या आधुनिक भारतीय मन, वचन, कर्म की कोई परिभाषा करना ही सम्भव है ? क्या कोई ऐसी परिभाषा की जा सकती है जिसमें पहले तो आज तक की दृष्टि से कोई खोट न हो। और फिर अगर कोई शुद्ध तर्क की क़सरत हो भी जाय तो फिर यह परिभाषा ऐसी भी तो हो जो व्यवहार में उतारी जा सकती हो। क्या भारत की आधुनिकता की ऐसी कोई परिभाषा की जा सकती है ?

हमें यह मान लेना चाहिए कि ये सब शंकाएँ अपनी जगह पर हैं। सचमुच परिभाषा आसान नहीं। अक्सर तो यह ऐसी चौहद्दी होती है नगर जिसके बाहर बसता है। इसमें तर्क की ओर खोट भी हो सकती है। फिर भी यह काम कर सकती है। क्योंकि यह अनुभव की बात है कि कोटियाँ शुद्ध नहीं हैं, फिर भी व्यवहार चलता है। और अगर एक छबि के मुताबिक़ उस का जस-का-तस साँचेढला भारतीय समाज न बने, और नहीं ही बनेगा तो भी इस कल्पना की एक ज़बर्दस्त भूमिका है। अगर यूक्लिड का बिन्दु बनाया नहीं जा सकता फिर भी इसका मूल्य है तो फिर चाहे एक छबि पर भारत का आधुनिकीकरण जस-का-तस न भी हो, फिर भी इस साँचे का, सपने का एक अविनाशी मूल्य है। इसमें मुझे तनिक भी संदेह नहीं। आपको है क्या ?

(३) जो हो, प्रश्न तो जस-का-तस है : आखिर भारत के आधुनिकीकरण की यह दृष्टि है क्या ?

ज़ाहिर है, भारत का आधुनिकीकरण विशिष्ट भारतीय प्रकृति और परम्परा और परिस्थिति और आकांक्षा के अनुरूप ही हो सकता है, अन्यथा नहीं।

लेकिन सवाल यह है कि भारतीय परम्परा और आधुनिकता में कोई ताल-मेल भी बैठ सकता है या नहीं ? सैद्धांतिक रूप से, परम्परा से बिलकुल अलग-अलग आधुनिकता नहीं हो सकती। ऐतिहासिक दृष्टि से भी, पश्चिम जिसे आधुनिकता का पर्याय मानने की अक्सर भूल की जाती है वहाँ भी आधुनिकीकरण परम्परा की क्रिया-प्रतिक्रिया का प्रतिफल है। भारत में तो जहाँ एक अलग परम्परा है, परम्परा से बिलकुल विच्छिन्न आधुनिकता कोरी बकवास है। मेरी राय में, कालक्रम में ज़िन्दा परम्परा आधुनिक होती रहती है और आधुनिकता का ज़िन्दा अंश परम्परित। इस तरह ये काल के दो पहलू हैं : पल और प्रवाह। भिन्न-अभिन्न। जैसे सिक्के के दो पहलू होते हैं। वैसे ही काल के भी ये कम-से-कम दो पहलू तो हैं ही : परम्परा और आधुनिकता।

इस मामले में दोनों ही दुनिया की अच्छी-अच्छी चीजें लेने की बात की जाती है। लेकिन यह एक बचकानी कोशिश है। यह दोनों ही गुटों में विदेशी ऋण और दान लेने की चाहत और आदत, मिश्रित अर्थ-व्यवस्था में दोनों ही क्षेत्रों के काल्पनिक लाभ की चेष्टा से जुड़ी हुई चित्तवृत्ति है। लेकिन एक ही दिमाग़ में दोनों का अलग-अलग खानों में बँटा होना स्वास्थ्य का लक्षण नहीं। अस्ल में तो परम्परा को नित नयी-नयी चुनौतियों के मुक़ाबले में नया करते हुए नया मन बनाना ज़रूरी है। नहीं तो दुनिया की खूबियों की तलाश तो त्रिशंकु बना देगी। और यह तो कोई अच्छी स्थिति नहीं है।

इसका यह मतलब नहीं कि अब भारतीय प्रकृति, परम्परा और परिस्थिति जो है सो है। और यह सनातन और शाश्वत है और इसमें न तो कोई परिवर्तन की ज़रूरत है और न यह परिवर्तन संभव ही है। आखिर, यह प्रकृति और परम्परा भी तो दीर्घकाल के नित्य अभ्यास से दृढ़ हुई भूमि ही तो है। इसलिए संकल्प, अभ्यास और अनुशासन से इस प्रकृति वग़ैरह में परिवर्तन तो हो ही सकता है।

उदाहरण के लिए, भारतीय प्रकृति में जो संतोष का गुण है वह इस हद तक है कि

वह ज़िन्दगी की स्पृहा को सुखा देता है और फिर तो धीरे-धीरे अच्छी ज़िन्दगी की तलब ही मर जाती है। इसलिए भारतीय दृष्टि में थोड़े असंतोष और प्रतिरोध की ज़रूरत है। लेकिन फिर वैसे असंतोष की नहीं जो बहुत सी चीज़ों की तलाश में दुनिया को बल्कि अंतरिक्ष तक की खाक छनवाता है। इस आधुनिक उन्माद की अति और संतोष की अति से बचते हुए एक जीवन-दृष्टि को सतत निखारा जा सकता है, कम-से-कम मेरी राय में निखारना चाहिए।

लेकिन इतना ज़रूर याद रहे : 'जो होना चाहिए' वह 'जो है' उस पर से ही हो सकता है, जो नहीं है उस पर से नहीं। इसलिए जो एक अनिवर्चनीय क़िस्म की, क़रीब-क़रीब बिना चेहरे की परम्परागत भारतीयता है उस पर से ही आधुनिक भारतीयता उभर सकती है, शून्य में से नहीं।

इस तरह यह स्वदेशी दृष्टि और प्रखर राष्ट्रीयता भारत के आधुनिकीकरण के लिए आधारभूत है। कहने की ज़रूरत नहीं, यह स्वदेशी तो देश के क्षेत्र में स्वधर्म का विस्तार है। और यह स्वधर्म तो छूटता नहीं। फिर इस स्वदेशो से विरोध नहीं, लेकिन यह सर्वदेशी नहीं। क्योंकि ऐसा सर्वदेशी होना चमड़ी की देह से बँधे, देश-काल से अविच्छिन्न आदमी-औरत के लिए सम्भव नहीं। इसी तरह, सच्ची राष्ट्रीयता ही अन्तर्राष्ट्रीयता का आधार है। बिना भिन्न-भिन्न राष्ट्रीयता के पुष्ट हुए अन्तर्राष्ट्रीयता के विकास की चर्चा बेबुनियाद है। राष्ट्रीयता एक तथ्य है और ऐतिहासिक दृष्टि से आधुनिकीकरण का पुष्ट आधार है। जब कि एक औसत भारतीय बुद्धिजीवी राष्ट्रीयता को प्राप्त किये बिना ही अन्तर्राष्ट्रीयता बल्कि अन्तरिक्ष युग में प्रवेश करने का दम्भ करता है। राष्ट्रीयता इस युग की नींव और फ़र्श है और अन्तर्राष्ट्रीयता छत है। बिना नींव के यह छत कैसे तानी जा सकती है यह कोई बताए। तो गहरी राष्ट्रीयता भारत की सच्ची अन्तर्राष्ट्रीयता और आधुनिकता की आधारशिला है। इसमें मुझे संदेह नहीं। अगर आपको है तो कृपया बताएँ।

किन्तु इस देश की शिक्षा-प्रणाली तो जैसे अभारतीयकरण की ही शिक्षा देती है। इस प्रणाली से गुज़रने के बाद अभारतीयकरण पूरी तौर पर नहीं हो पाता तो इसकी वजह पीढ़ी-दर-पीढ़ी के संस्कार हैं उनमें कुछ बात ऐसी है ज़रूर कि हमारी हस्ती मिटती नहीं है।

(४) लेकिन इस शायरी से कब तक काम चलेगा ? भारतीय परम्परा के जो माने हुए दोष हैं उनके प्रति आँख मूँदने से और शायरी से काम नहीं चलेगा। और अन्य बातों के अलावा, ये दोष हैं :

(क) भारतीय दिमाग़ का ऐसे दो खानों में बँटा हुआ होना कि एक की हवा तक दूसरे को नहीं लग पाती। यह द्वैत व्यावहारिक-पारमार्थिक सत्य, सगुण-निर्गुण, कथनी-करनी के अन्तर और अन्य कितने ही तरह के पाखण्ड का मूल है।

(ख) भारतीय दिमाग़ की एक खास आदत प्रमाण मानने की है। इधर जिस बात का प्रमाण माना जाता है उनमें अन्तर आया है। पहले तो शास्त्र-वचनों का और श्रेष्ठ जनों का प्रामाण्य रहा है। अब भी करोड़ों के लिए तो इनका असर है। लेकिन भारतीय बुद्धिजीवी वर्ग में अब अपने परम्परित प्रमाणों की क़द्र नहीं

है। क़द्र तो दरअस्ल में तो जानकारी तक नहीं है। बल्कि साफ़ तौर पर चिढ़ है। लेकिन प्रमाण मानना तो भारतीय दिमाग़ को एक खास आदत है। संस्कार है। इसलिए अब वह उन्नीसवीं सदी के पश्चिम के क्लासिकी उदारवाद, या क्लासिकी मार्क्सवाद, कुछ हद तक अस्तित्ववाद वग़ैरह के किताबी रूप-रूपाकारों को प्रमाण मानता है। इस तरह एक ओर तो शायद अचेतन रूप से अपनी परम्परागत प्रमाण की बैसाखी का सहारा लेता है और चेतन रूप से पश्चिमी प्रमाण की बैसाखी का। अपने पैर पर खड़ा होने और चलने का आत्म-विश्वास और अभ्यास ही इसका नहीं है।

(ग) फिर भारतीय मस्तिष्क परम्परागत रूप से जल छिड़क कर या टीका-टपाका लगा कर एक लमहे की पवित्रता और दीर्घ रात्रि की भ्रष्टता को चलाता रहा है। इस परम्परागत दिमाग़ ने आधुनिकता के भी बाह्य प्रतीकों को टीका-टपाका की तरह धारण किया है और जल छिड़क कर एक लमहे की आधुनिकता और दीर्घकाल की पारम्परिकता का दुहरा व्यक्तित्व क़ायम रखा है। यह शायद एक कवच है।

(घ) जाति-प्रथा और इस सामाजिक स्तरीकरण में अलग-अलग सीढ़ियों के बीच की जन्म से तयशुदा नाम, रूप, गुण, कर्म की बहुत करके न लाँघी जा सकने वाली दूरी।

(ङ) शरीर-श्रम या काम-मात्र के लिए अरुचि, अक्षमता और गपबाज़ी की अपूर्व क्षमता, बढ़ते हुए जीवन-स्तर की आकांक्षा और काम और कांक्षा के बीच की खाई को विदेशी सहायता से देवी-देवताओं की मनौती से, माता-पिता की कमाई से, ऊपरी आमदनी से या सरकारी स्तर पर वाशिंग्टन-मास्को से पाटने की ज़रूरत और आदत।

इस तरह, खास तौर पर भारतीय शासक वर्ग अपने उपयोग का तो आधुनिकीकरण चाहता है, लेकिन इसके लिए ज़रूरी उत्पादन के आधुनिकीकरण के काय-क्लेश को बराता है।

निश्चय ही, भारतीय मन, वचन और कर्म के माने हुए दोषों की यह सूची पूरी नहीं है। यह तो उदाहरणस्वरूप है। इनमें संदर्भ के मुताबिक़ कुछ भी जोड़ा-घटाया जा सकता है।

(५) अब इन माने हुए दोषों को दूर करके गुणों से ढँकना परिवर्तन का पहला क़दम है :

(क) दिमाग़ के दो बँटे हुए खानों को कथनी-करनी की एकता के रसायन से जोड़ना ज़रूरी है।

(ख) प्रामाण्यवाद के बजाय प्रयोगशीलता पर ज़ोर ज़रूरी है और स्वतन्त्र रूप से आर-पार सोचने की आदत का विकास भी। एक बाग़ी दिमाग़ और निरन्तर प्रयोगशीलता और सर्जनशीलता भारत के आधुनिकीकरण के लिए आधारभूत है।

(ग) टीका-टपाका वाली लमहे पर की आधुनिकता के बजाय अन्तःकरण से उपजने वाली आधुनिकता।

(घ) जाति-प्रथा का नाश और सामाजिक दूरी के बजाय बढ़ती हुई तदाकारता और

(ङ) काम-आराम के प्रति दृष्टिकोण में तबदीली और उपयोग के आधुनिकीकरण के बजाय उत्पादन के आधुनिकीकरण पर ज़ोर देना ज़रूरी है।

(६) किन्तु दोष दूर करना और इन्हें गुणों से ढँक देना आसान नहीं। दिमाग़ की आदतें, और सामाजिक संस्थाएँ और इनकी जड़ताएँ जो हमारे ख़ून में हैं, इतनी जल्दी नहीं छूटतीं। और जब तक ये आदतें और संस्थाएँ बदलती नहीं तब तक नये की कद्र हो सकती नहीं।

इसलिए इन मूल्यों, आदतों और संस्थाओं के ख़िलाफ अखण्ड क्रान्ति की ज़रूरत है। और बीसवीं सदी में राज्य और समाज के संगठन जितने शक्तिशाली बन गये हैं उनमें यह अखंड क्रान्ति हथियारों वाली हो नहीं सकती। और न ही हथियारों से इन आदतों, रीति-रिवाज़ों को बदला ही जा सकता है। इस दृष्टि से अखण्ड क्रान्ति का एकमात्र और सच्चा मार्ग सत्याग्रह ही है। आधुनिकता को सत्य का अन्वेषण वगैरह कहा गया है। लेकिन सत्य का सिर्फ़ विवेक और अन्वेषण काफ़ी नहीं है। सत्य का आग्रह ज़रूरी है, जबकि आज का मुहावरा है : क्या फ़र्क पड़ता है ? लेकिन अच्छे-बुरे में फ़र्क पड़ना चाहिए। इसकी तमीज़ करनी चाहिए। और जब एक बार अन्तरात्मा से कुछ बुरा लगे तो 'नहीं' करने की आदत बननी चाहिए। यह सविनय अवज्ञा तो मनुष्य का कभी न छुटने वाला स्वधर्म है। और भारत का नया मन बनाने के लिए, बल्कि आत्म-सम्मान को खोये बिना जीने के लिए सविनय अवज्ञा की आदत का बनना ज़रूरी है।

(७) सत्याग्रह स्वतंत्रता का अचूक हथियार है। इस बेजोड़ हथियार को खोकर हमारी स्वतंत्रता ख़तरे में है। सत्याग्रह के प्रयोग से जो राजनीतिक स्वतंत्रता मिलती उसे बात-चीत और विभाजन की मंजूरी से सत्ता-लोलुप नेतृत्व ने बीच में ही लोक लिया।

फिर, जो राजनीतिक स्वतंत्रता खण्डित और लँगड़ी-लूली मिली भी, वह अधूरी और अधकचरी है। स्वतंत्रता का एक चतुर्भुज है : राजनीतिक स्वतंत्रता इसकी एक भुजा है, आर्थिक स्वतंत्रता दूसरी, सामाजिक स्वतंत्रता या समता तीसरी और मानसिक स्वतंत्रता चौथी। इस चतुर्भुज में वैसे तो हर ही भुजा, लेकिन ख़ास तौर पर मानसिक स्वतंत्रता सत्य के अन्वेषण और आग्रह के बिना जैसे लोप हो गयी है। आज़ादी मिले अट्ठारह साल से ऊपर हुए लेकिन हम भारतवासी और ख़ासतौर पर बुद्धिजीवी ऐसे लिख-पढ़ और बोल-बरत रहे हैं जैसे अभी भी गुलाम हैं : ब्रिटेन या अमरीका के या सोवियत रूस के या बड़ी मशीनों के, अंग्रेज़ी भाषा के, जाति और विवाह की संस्थाओं के, आदतों और रीति-रिवाज़ों के और न जाने किन-किन के। और करोड़ों भारतीयों में, ख़ास तौर पर भारतीय बुद्धिजीवियों में आज़ादी का प्राण फूँके बिना तो किसी क़िस्म का परिवर्तन या आधुनिकीकरण सम्भव नहीं।

(८) इससे जुड़ा हुआ प्रश्न आर्थिक स्वतंत्रता का है। इस आर्थिक स्वतंत्रता के लिए, अन्य बातों के अलावा, राष्ट्रीयता, (ख) धन्धों, इलाक़ों और ऊँच-नीच के बीच चलन शीलता, (ग) नवीनकरण, (घ) विकेन्द्रित नेतृत्व और (ङ) संचालन ज़रूरी है।

(९) जातियों, पेशों और स्तरों के बीच चलनशीलता का मतलब है सामाजिक समानता। और अब समानता की भूख को जगाये बिना और इस जगी भूख को शान्त किये बिना

उत्पादन में वृद्धि और आधुनिकीकरण नामुमकिन है। इसके लिए नेतृत्व का जनता के साथ, इस विशाल बहुमत के साथ तदाकार होना ज़रूरी है। और इस दृष्टि से यह वर्ग स्वेच्छया ग़रीबी को चुने, इसके अलावा कोई रास्ता तादात्म्य का नहीं है।

(१०) यह सब बड़े जोखिम का काम है। लेकिन भारतीय बुद्धिजीवी तो मामूली जोखिम की छाया से भी कतराता है। क्योंकि यह जिस मध्यम वर्ग से आता है उसका इस देश में एक ख़ास ढंग का विकास हुआ है। यह भारतीय मध्यम वर्ग उदाहरण के लिए, ब्रिटेनके मध्यम वर्ग से भिन्न है जो औद्योगिक परिवर्तन और विदेशी व्यापार के जोखिम के बीच से ही उभरा है। और जोखिम से जूझते हुए पश्चिमी मध्यम वर्ग ने अपनी जातीय इतिहास के पंखों में वेग भारा है। इससे भिन्न है भारतीय मध्यम वर्ग। यह सरकारी नौकरों, अध्यापकों, वकीलों, डाक्टरों वाला है। इसलिए हद से ज़्यादा सुरक्षा-अभिमुख है और जोखिम-विमुख। और यहाँ तो जोखिम भारी है : आग से बचने के लिए आग में ही कूदना है। इस आग में सब स्वाहा भी हो सकता है और शुद्ध भी।

लेकिन क्या भारतीय बुद्धिजीवी वर्ग इस आग में अपने को होमने के लिए तैयार है? और अगर नहीं है, और जहाँ तक मैं इसे जानता हूँ नहीं है, तो फिर भारत के आधुनिकीकरण में इसकी क्या भूमिका हो सकती है? कोई बताए।

विचार-विमर्श

पहली बैठक

जगन्नाथ उपाध्याय—(१) डा० रघुवंश के निबंध में बहुत सारे विषयों की चर्चा की गई है। मेरे विचार में उनके निबंध में एक अनुस्यूत विषय, अपनी परम्परा में कथनी और करनी के विरोध का है। इस देश के संस्कार बहुत पुराने हैं और केवल सौ-दो-सौ वर्ष के इतिहास के विश्लेषण पर परम्परा की इस प्रकार शिकायत करना ठीक न होगा। इतना बड़ा देश और उसका इतिहास, जहाँ अनेकानेक जातियाँ आईं राजनीतिक स्तर पर तो नहीं किन्तु सामाजिक और धार्मिक स्तर पर अपने को जीवित ही नहीं रखा, वरन् सबको अनुस्यूत किया। यहाँ विचार और कर्म को अलग-अलग रखा गया। दोनों में भारी विरोध रहने के बावजूद भी देश जीवित रहा। कहीं दोनों का यह अलगाव, एक जीवन विधि तो नहीं ? मनुस्मृति में बीच का दर्शन नहीं मिलता किन्तु उसके निर्माण काल में बौद्ध और अबौद्ध आपस में लड़ रहे थे फिर भी स्मृति बिना इन प्रभावों को अपने में समेटे लिखी जा रही थी। इस भेद को जिसे हम कोसते हैं शायद जीवन की एक पद्धति है। इस पर विचार हो। (२) डा० हरिहर नाथ त्रिपाठी ने अपने निबंध में तो नहीं किन्तु उसके साथ के वक्तव्य में भी विरोधों का पयवसान किया है, इसका भी स्पष्टीकरण हो। (३) तीसरे निबंध (श्री लक्ष्मीकान्त वर्मा) में एक अन्य विचारधारा थी। इसे कुछ अन्तर के साथ पूर्व के प्रतिपक्ष में रखा जा सकता है। इस निबंध में यह स्थापित था कि विविधता समग्रता का परिचायक है, इसको एकता ने खंडित किया। इसका व्यवहार क्षेत्र में प्रयोग कैसे सफल हुआ ? समग्रता में एकता कोई चीज़ नहीं है, एकता एक बंध्या स्थिति है। दो से सृष्टि होती है। दो से ही समाज बनता है। आप्यायन होता है। समाज में आदान-प्रदान होता है। वक्र या सरल रेखा से जीवन गति बनती है। इस प्रकार विविधता से समग्रता बनती है। जो एकता को समग्रता मानते हैं वह कहाँ तक ठीक है ? दोनों में क्या सम्बन्ध है ? ये भी कुछ प्रश्न हैं जिनका समाधान आवश्यक है।

दयालशरण वर्मा—इनका आरोप था कि आधुनिकीकरण शब्द के इनके अपने आशय से जिन समस्याओं का उदय हुआ उनसे निबंधों का कोई मेल नहीं बैठा है। निबन्धों में बौद्धिक वर्ग की तीखी आलोचना है, कटु शब्दों का प्रयोग भी किया गया है। संभवतः ऐसा किसी खास बेचैनी को प्रकट करने के लिए किया गया है। इसका आधार क्या है ? जब कि विशेषतः इसको कहने वाले स्वयं बौद्धिक वर्ग के हैं। कुल चर्चा नवीनता, गतिशीलता और सर्जनशीलता जैसे शब्दों के आस-पास मंडरा रही है। यह सब क्या है ? इसका कहीं स्पष्ट रूप से पारिभाषिक उल्लेख नहीं हुआ है। जैसे सभी ने ' केन्द्रीय दृष्टि' का प्रश्न उठाया है किन्तु इसका स्पष्टीकरण कहीं नहीं हुआ है, यह एक अस्पष्ट चिन्तन के कारण है। सारे चिंतन को एक समाजवैज्ञानिक

आधार देना चाहिये। विषय को 'मूल्यात्मकता' के आधार पर स्वीकारना चाहिये। मूल प्रश्न यह है कि किसी समाज की संस्कृति में उसके मापदंड क्या हैं जिसके आधार पर अच्छे-बुरे का निर्णय हो सके। समस्या नक़ल और परम्परा की नहीं है। समस्या जिन सिद्धान्तों को माना गया है उसके लिए पर्याप्त प्रमाण प्रस्तुत करने की है।

विजयदेवनारायण साही—जो उलझन डा० वर्मा को हुई वैसा ही हमने महसूस किया, किन्तु मैंने अपने को इस कारण समझा लिया कि आज का विषय मुख्यतः आधुनिकीकरण के ऐतिहासिक सिंहावलोकन का था इसलिए ऐसा दिख पड़ रहा है।

ब्रिटिश इतिहास की सत्याग्रही युग की व्याख्या पिछले १५ वर्षों में बदल दी गई है। आज़ादी के पूर्व की भाषा छोड़ कर हमने नयी भाषा इस्तेमाल की है इसलिए इतिहास की सारी व्याख्या मात्र राजनीतिक हो गई हैं, बौद्धिक नहीं रही। शायद पहली कठिनाई बौद्धिकों को आधारहीन बनाने की यही रही। पिछले १५०-२०० वर्षों का धूमिलपन उन तथ्यों को नये रूप से प्रस्तुत करेगा। अधिकतर इतिहास ब्रिटिशों के द्वारा लिखा गया। उन्होंने ब्रिटिशों के कारनामें ही टाँके। इन्हें भी इस प्रकार प्रस्तुत किया गया कि यह दिखे कि ब्रिटेन ने क्या-क्या लाभ पहुँचाये हैं। उसके मूलभूत उद्देश्य की चर्चा नहीं हुई। हिन्दुस्तान के इतिहासकार की आज ज़िम्मेदारी है कि वह इनकी चर्चा करे, नहीं तो हम में यह बेचैनी रहेगी।

ब्रिटिश इतिहास के केवल तीन उद्देश्य थे। (१) उपनिवेश बसाना, (२) प्रत्यक्ष शासन और (३) अप्रत्यक्ष शासन करना।

उपनिवेश बसाना उनका मूल उद्देश्य था। ब्रिटिश समाज एक बहुत बड़ी आन्तरिक जन संख्या की समस्या से आक्रान्त हुआ। सन् १७०० में ब्रिटेन की जन-संख्या ८० लाख थी और सन् १८०० में ४ करोड़। बाहर बसना अनिवार्य हो गया और अंग्रेज़ों ने उपनिवेश बसाये। यह ऐसी जगह हुआ जहाँ प्रतिरोध की क्षमता बिल्कुल नहीं थी, किन्तु जहाँ प्रतिरोध की क्षमता अधिक थी वहाँ अप्रत्यक्ष और जहाँ कम थी प्रत्यक्ष शासन लागू किया।

भारत में प्रतिरोध अथवा जीवित रहने की क्षमता कम थी इसलिए यहाँ थोड़े से अंग्रेज़ों ने शासन किया, किन्तु वह इतनी अवश्य थी कि जिससे एक उबलती हुई जाति को अपनी भूमि पर उपनिवेश बनाने से रोक सके। डा० त्रिपाठी के निबंध से मुझे लगा यहाँ क़ानूनी समानता थी, परन्तु यहाँ अंग्रेज़ों के लिए दूसरे क़ानून थे और भारतीयों के लिए दूसरे क़ानून थे। यदि भारत उपनिवेश होता तो हमारी स्थिति अफ़्रीका की होती किन्तु एकता यहाँ इसलिए दिखाई दी कि हम यूरोप की चुनौती को देख पाये। मुझे लगता है कि राममोहन राय या अन्य सभी ने उपनिवेश बसाने की चुनौती को स्वीकार किया। यदि हम यह दृष्टि अपनायें तो राममोहन राय को हम उतना छोटा नहीं समझेंगे।

अन्दर की एकता नये ढंग से परम्परा को अभिव्यक्त करती है तो वह चुनौती को स्वीकारती है और इस प्रक्रिया में देश बदलता है।

आज की स्थिति हमारी दूसरी है। उपाध्याय जी ने कहा कि एकता वंध्या स्थिति है। जब सृष्टि को अपने में मानते हैं तो हम हिन्दुस्तान को एक बना सकते है। किन्तु ऐसा हुआ ? आपके सर्जन का मतलब अपने से जूझकर नया पैदा करना। किन्तु दूसरी दुनिया से जब हम टकराते हैं तो अन्दर २ से बदलते हैं। हम आज एक से नहीं टकराते हैं, अनेक से टकराते हैं।

आज ऊँच-नीच के सोपान में हम नीचे से ऊपर को आते हैं। यह आधुनिक है। सोपानों में नीचे से ऊपर उठने की चाह ही आधुनिकीकरण है। किन्तु इसे तब हम आधुनिकीकरण को जगह प्रगतिशीलता अथवा कुछ दूसरा क्यों न कहें। आधुनिकोकरण एक बदनाम शब्द है, यह अकसर प्रतिक्रियावादी हो जाता है। यह पश्चिमी है, पाश्चात्य विचारकों की दृष्टि हमें शंकित करती है। लेकिन यहाँ पर निबन्धकारों की यह इच्छा थी कि यह शब्द स्वीकार करें और इसकी व्याख्या दूसरी दें। क्या यह छाया की ओर भागना नहीं है ?

आज आधुनिकता शब्द मूलतः बौद्धिक हो। वह दिमाग़ के बुखार को प्रकट कर दे। यदि यह लगे कि युग बदल गया। समाज में अनुभूति हो कि युग बदल गया, सन्दर्भ बदल गया तो यही आधुनिकता का रूप है। अच्छे बुरे का जब चुनाव होता है तो आधुनिकता नहीं आती है। इसलिए आज नये बौद्धिक युनिवर्स को तलाशने की हमारी इच्छा है।

देवराज—निबन्ध पाठकों में बेचैनी है, एक तरह से अपने से असन्तोष भी है। जब लक्ष्मीकान्त जी आज की बौद्धिक नंपुसकता की बात करते हैं तो यह एक निर्णय दिया जाता है। बेचैनी सारी दुनिया में है, अपने यहाँ कुछ भिन्न है। इसके दो रूप हैं। हमारे यहाँ बेचैनो बुद्धिजीवियों में है। हमारा जीवन न भौतिक है न बौद्धिक और नैतिक दृष्टि से न जीवन स्तर ही ऊँचा है। हमारा बौद्धिक स्तर क्यों नहीं बढ़ रहा है यह हम अपने से पूछते हैं। हम स्वयं अपने को गाली देते हैं। सरकार को गाली देते हैं। सरकार की आलोचना अपनी ही आलोचना है। अपने से शिकायत का निदान एक दूसरा प्रश्न है। यह व्यक्तिगत बेचैनी है।

दूसरी, सार्वभौमिक बेचैनी है कि हम क्यों ज़िन्दा रहते हैं। जोविका और व्यक्तिगत आकांक्षा से अलग कुछ जीयें। वीर जीवन स्वाभाविक है, यह अपनी क्षुद्रता आदि हीनता को प्रकट करता है। धार्मिक विश्व दृष्टि के ऊपर विज्ञान के आघात से यह समस्या उठी है, अस्तित्व-वाद की समस्या भी यही है। यह छटपटाहट सब जगह है।

दूसरी बात स्पष्टीकरण की है। हमारे यहाँ चिन्तन की यह परम्परा नहीं है कि प्रश्न को स्पष्ट करने में मेहनत करें। आधुनिकता क्या स्पष्ट चीज है ? क्या इसे सामने लाया जा सकता है।

डा० रघुवंश के निबन्ध में सर्जनात्मकता का भी स्पष्टीकरण चाहिये। सर्जनात्मकता चाहते हैं या उच्च कोटि का सर्जन चाहते हैं। केवल विद्रोह के लिए विद्रोह या बदलने के लिए बदलना, यह मात्र असन्तुष्टि को बतलाता है। गति-गति करने से कुछ नहीं होता उसके लिए थिर होकर कुछ सोचना आवश्यक है। जिसे हम नहीं चाहते। कृति महत्त्वपूर्ण बने सर्जन इससे क्यों नहीं सम्बन्धित है। सर्जन का गुण और ऊँचाई भी कुछ प्रश्न हैं, जिन पर विचार करना है।

एक बात और पश्चिम की नकल के सिलसिले में उठी। यदि हमारा परिवेश पश्चिम का परिवेश है तो योरोप और उसके विचार से हम नहीं बच सकते। हमारा नया परिवेश नहीं है इसलिए हमें प्रभावित होना पड़ेगा। किन्तु मैं निर्धारणवाद को नहीं मानता। रघुवंश जी ने अपने निबन्ध में परिवेश के प्रभाव की स्थापना की है। परम्परा के प्रति हमारा कोई दृष्टिकोण नहीं है। जब हम परिवेश के प्रति प्रतिक्रिया करते हैं तो इस रूप में नहीं कि कम जीना सीखा

गया। परम्परा का विरोध बिना गहरे परिचय के सम्भव नहीं। हम परम्पराओं को आत्मसात् करके ही उसके प्रति प्रतिक्रिया करते हैं। आज का दुःख और निराशावाद फ़ैशन के रूप में बनाया गया है, इसके जगह पर हम आस्थाशाली हों तब सर्जन बढ़ेगा। आस्थाशील होने के लिए हम अपनी पुरानी संस्कृति और पश्चिम दोनों से सीख सकते हैं।

स्पष्टीकरण—बहके हुये विचार-विमर्श पर डा० हरिहरनाथ त्रिपाठी को स्पष्टीकरण की आवश्यकता महसूस हुई। उन्होंने कहा कि विमर्शकों ने परिभाषा का प्रश्न बार-बार उठाया है। इस सम्बन्ध में मैं यह कहना चाहूँगा कि ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में हम लोगों ने परिभाषा को छोड़ दिया। केवल अपनी पैठ पर प्रश्न की अपेक्षा थी। हमने अपने निबन्ध में इसी प्रकार आधुनिकता को भी सीमांकित किया है।

डा० रामकुमार चौबे—डा० त्रिपाठी और अन्य लोगों ने भारत में स्वतन्त्रता की बेचैनी की शुरुआत का इतिहास दिया है। उन लोगों ने माना है कि १७७२ में स्वतन्त्रता की बेचैनी की चर्चा की है। मैं भी इतिहास का एक अदना विद्यार्थी हूँ अतः यह कहना चाहूँगा कि बेचैनी १६२३-३० से शुरू होती है जिसे शिवा जी के मन में उनकी माँ और दादा ने भरा। मराठों का संघर्ष और उसका इतिहास बेचैनी को प्रकट करता है। टीपू सुल्तान आदि ने इस बेचैनी को उजागर किया।

अध्यक्ष प्रो० राजाराम शास्त्री—ने सारे विचार विमर्श को सारांशित किया। उन्होंने कहा कि पूरी बहस में जो ऐतिहासिक निरूपण हुआ उसमें आधुनिकता का आगमन १७७१ के बाद माना गया। और यह कहा गया कि सोपान का समीकरण हो तो आधुनिकता आये।

इतिहास, भारतीयता और पाश्चात्यता पर भी बात हुई। इसका आधुनिकता से क्या सम्बन्ध है? पाश्यचात्यता आधुनिकता नहीं है। इस सिलसिले में पाश्चात्य जगत् की ज़्यादा चर्चा हुई। पहले यह विचार आया कि भारत की अपनी कुछ विशेषताएँ हैं। यदि कोई समस्या आती है तो उसका हल यहीं से निकाला जा सकता है। पश्चिम ने जो कुछ भी दिया अपने स्वार्थ से दिया। यह भी देना नहीं दिखावा था जैसे एकता। दूसरा विचार यह रहा कि हल करने के भारतीयता के चाहे कुछ भी उपादान हों किन्तु उसकी चुनौती बाहर से आती है। समस्या बाहर से आई फिर उनकी चुनौतियाँ भी आईं। इन्हें अपने उपादानों की सहायता से भी हल किया जा सकता है और आयातित उपादानों से भी। किन्तु इस बात को अकसर नज़र अन्दाज़ कर दिया जाता है कि ज़्यादातर हल बाहर से लिया जाता है। केवल उन पर अपनी भाषा का खोल चढ़ा दिया जाता है।

यह भी कहा गया कि कोई भी संस्कृति अपने आप में आत्मकेन्द्रित होती है और अपना प्रस्तार करती है। इस प्रक्रिया में वह दूसरों का भला करती है किन्तु अपने तरीक़े से। किन्तु यदि कोई संस्कृति अपने तरीक़े से दुनिया की समस्या का हल करती है तो वह वस्तुतः सामान्यीकरण करती है। यह तभी हो सकता है जब सभी जगह के उपादानों का उसमें समावेश हो। इस सामान्यीकरण में आदान-प्रदान होगा। यही कारण है कि लोग सार्वभौम संस्कृति में विलीन करने की बात सोचते हैं।

किसी बात को इधर-उधर से लेने से कोई समस्या हल नहीं होती है। इसका विरोध करते हुये कहा गया कि इससे समन्वय नहीं होता है। जैसे चीन गये लोग कहते हैं कि समाजवाद बहुत अच्छा है, यदि इसमें अहिंसा जोड़ दिया जाय तो और अच्छा हो। यह कृत्रिम रूप है और इसके विपरीत मौलिकता की बात इस बहस में उठाई गई है। आधुनिकता हमारी अपनी हो, इसके लिए मौलिकता, कुछ अपनी सर्जनशीलता होनी चाहिये। अपनी समस्या का हल हम खुद करें, वैसे तत्त्व लिये जा सकते हैं यह कोई बुरी बात नहीं है। यह बात जब हो तो समन्वय आवे। समन्वय वह है जिसमें मौलिकता तो हो ही किन्तु परित्याग भी बहुत हो। केवल संग्रह समन्वय नहीं है। इसमें त्याग भी करना है। इसके लिए एक नया फ्रेमवर्क, नया जीवन दर्शन बनाना पड़ेगा।

मौलिकता के लिए मीमांसा आदि की ज़रूरत होती है। यह सब धीरे-धीरे होता है। प्रश्नों के अपने विश्लेषण से तत्त्व का दोहन करना चाहिये। कभी-कभी इतिहास अपने आप समन्वय कर लेता है। इस प्रक्रिया में fitest जीवित रहता है। समन्वय विकसित होते हैं जिसे परिस्थिति से अनुकूलन की संज्ञा दी जाती है। किन्तु यह एक आग्रहवादिता है। और इसका मुक़ाबला करना है। हमें हल ढूँढ़ने की इच्छा को महसूस करना होगा। यहाँ दैववाद से नहीं पुरुषार्थवाद से काम होगा। यह बुद्धिजीवियों का काम है।

इस बहस से एक नया सवाल जन्म लेता है कि आधुनिकता अपने आप में आधुनिक है या नहीं। इस पर बाद में विचार करके परिभाषा का निर्माण करना होगा। इसी प्रसंग में एक बात और, मानवता को एक माँगे हुये स्तर पर लाना आधुनिकता है। यह हर ज़माने में लागू हो सकती है। परिभाषा के आज के रूप और भारत के लिए उसके आधार की खोज इस द्विदिवसीय बहस की अब ज़रूरत हो गई है।

दूसरी बैठक

शंभूनाथ सिंह—आज का विचार विमर्श डा० शंभूनाथ के वक्तव्य से प्रारंभ हुआ। उन्होंने कहा कि आधुनिकता को हम अँधेरे में टटोल रहे हैं। सच तो यह है कि हम समस्या की नब्ज़ नहीं पकड़ पा रहे हैं। आधुनिकता एक जीवन दृष्टि रही है जो हमेशा रहेगी। यह दृष्टि बुद्धिजीवियों ने पैदा की है। आधुनिकता अंग्रेज़ों के आने के बाद शुरू हुई यह भ्रम है। आधुनिकता युग की होती है। सुखी बनाने के लिए प्राचीनता को छोड़ कर नवीन को अपनाना आधुनिकता है। यह युग सापेक्ष है। हम अपने समाज के वर्तमान वर्गों और और उनके बीच के आदान-प्रदान को देखें। किन्तु किधर जायें इसकी सक्रिय चेतना होनी आवश्यकता है।

आधुनिक युग में समाजवाद, लोकतंत्र आदि कुछ मूल्य हैं जिन्हें हम आधुनिकता का

बोध कहते हैं। ये मूल्य केवल २०० वर्ष से नहीं पैदा हुए। इस सदी के पाँचवें दशक में यह बोध था कि हम मरने या घुटने के लिए विवश हैं। विवशता का यह भाव सन् ६० तक की प्रवृत्ति है। अब पराजय को मनोवृत्ति कम हुई है और आत्मविश्वास बढ़ा है। मूल्यों में आस्था है या नहीं इस पर विचार करना आवश्यक नहीं है। घटित होना और उसकी चेतना ही आधुनिक बोध है। आधुनिकीकरण की जगह आधुनिकता का बोध का कहना अधिक अच्छा होगा।

रामस्वरूप चतुर्वेदी की आपत्ति—डा० शंभूनाथ जी के वक्तव्य में अन्तर्रोध पैदा करते हुये डा० चतुर्वेदी ने एक आपत्ति रखी कि शंभूनाथ जी ने कहा कि आधुनिकता की एक परंपरा रही है। यदि आधुनिकता की परंपरा है तो परिचर्चा के लिए अपनाई गई शब्दावली की मर्यादा व्यर्थ हो जाती है।

अध्यक्ष का समाधान—आज से १०० वर्ष बाद क्या हम आधुनिक कहलायेंगे? हमेशा बना रहना क्या यही आधुनिकता है? मैं समाज से जोड़ कर आधुनिकता का निर्णय करता हूँ। समस्या के इस प्रतिवर्त्ती पहलू पर भी विचार किया जाय।

रमाशंकर पांडेय—आधुनिकता की समस्या के बारे में विचार-विमर्श मैं दिल-चस्पी से सुन रहा था। कुछ प्रश्न उठे हैं जिन्हें आपके सामने रखता हूँ। १. आधुनिकता या आधुनिकीकरण का प्रत्यय क्या है? प्रत्यय, विशेष सामाजिक और सांस्कृतिक संदर्भ में होते हैं। हम उनका कुछ हूबहू अर्थ खोजने की कोशिश करते हैं। प्राविधिक युग में समाज की परिधि में सब कुछ सीमित नहीं है। औद्योगिक और नागरिक समाजीकरण सार्वभौमिक रूप से फैल रहा है। छोटे समुदाय के मूल्य का अब खड़ा रहना कठिन है। आज की आधुनिकता का मतलब आज की औद्योगिक तथा नागरिक समाज की प्रक्रिया को देखने में लगाना है। २. आधुनिकीकरण का जो रूप विभिन्न समाज में पाया जाता है उसके प्रभाव से एक परंपरागत समाज बहुत कुछ टूटता है, यह एक दूसरी बात हुई। यदि आदिवासी और विकसित समाज में मिलन विंदु खोजा जाय तो इस तथ्य के सम्बन्ध में बहुत कुछ पाया जा सकता है। जहाँ औद्योगिक सभ्यता का आरोहण और विकास होता है वहाँ आदिवासी संस्कृति में टूट आती है और उसका स्वरूप बिखरने से बच नहीं पाता है।

संस्कृति विशेष की अपनी मान्यतायें या प्रक्रियाएँ होती हैं जिनका काफ़ी प्रभावशाली रूप होता है, उसमें देशी और सार्वभौमिक रूप को अलग-अलग करना मुश्किल होता है। कोई भी समाजिक प्रणाली जब बाहरी प्रभाव ग्रहण करती है तो एक विशिष्ट क्रिया होती है और उससे कल्चरल काम्पलेक्सिटीज पैदा होती हैं और विशिष्ट रूप इसी की सामाजिक सांस्कृतिक प्रणाली से उत्पन्न होता है। ३. तीसरी बात संप्रेषण की है। संप्रेषण की दृष्टि से जो कुछ आंतरिक दबाव से हो रहा है उससे अधिक बाहर के दबाव को झेलना पड़ रहा है। वाह्य प्रभाव के प्रति हमारे घात प्रतिघात को देखना आवश्यक है। बाहर की प्रणाली और चिंतन धाराएँ हमारी अपनी प्रणाली की सीमाओं को तोड़ रही हैं। वाह्य प्रभाव के संघात से नये तरह के भ्रम की स्थिति भी पैदा होती है। सारा संकट यह है कि हमारी आत्मा को बाहरी प्रभाव से जूझना पड़ रहा है।

रामायण राय—ने सारी बहस को इस रूप में लिया कि राजनीतिज्ञ बौद्धिकों से क्या अपेक्षा करें। उन्होंने कहा कि जहाँ तक बौद्धिक वर्ग की भूमिका का प्रश्न है इसमें दो राय नहीं होना है कि बौद्धिक उन परिस्थितियों का विश्लेषण करें जिसमें वह पैदा हुआ है। समाज के गतिरोध का पता ही न लगायें वरन् समाधान भी प्रस्तुत करें। इस देश का बौद्धिक वर्ग अपना कर्तव्य पूरा कर रहा है किन्तु जितना सुसंगठित ढंग से करना चाहिये वह नहीं है। हमारे जैसे लोग आप बौद्धिकों से जीवन के नये मूल्य क्या हैं, उन्हें जनमानस में कैसे उतारें, उसमें क्या बाधा है, नियोजन पर जनता की आस्था कैसे हो, यह सब जानने की अपेक्षा करते हैं। आज देश में बिखराव की स्थिति है। भावनात्मक एकता का सवाल है। इस पर भी विचार करना है। इसी के साथ पड़ोसी राज्य द्वारा उत्पन्न समस्याओं को जनमानस में उतारना, अनुशासन को जाग्रत करने आदि का भी सवाल उठता है, जिसकी चुनौती को स्वीकार करना है।

विजयदेवनारायण साही—आधुनिकीकरण की समस्या दो प्रकार से हमारे सामने आती है यह निबंधों में प्रयोग की गई शब्दावली से स्पष्ट है। डा० रघुवंश ने सर्जनशीलता को आधुनिकीकरण का केंद्रीय प्रश्न माना है। दूसरी बात ग्रहणशीलता की है। आधुनीकरण की प्रक्रियों के दो स्तर हैं। एक ग्रहण करने की होती है। क्या ग्रहण करें, क्या छोड़ दें इसमें आता है। दूसरी, सर्जन के क्षण में आती है। मैं सर्जन के क्षण में ही अपने को जूझता पाता हूँ।

आधुनिकीकरण ग्रहण में चयन की समस्या है, यह एक बात है और चयन में पदार्थों के निर्माण की बात, इसका दूसरा पहलू है। अतीत के नक़ल की बात ग्रहणशीलता से आती है। सर्जनशीलता में लगे लोग सर्जनात्मक प्रवाह के हैं अथवा सर्जनात्मक उत्कृष्टता के, यह डा० देवराज की बात थी जो मुख्यतः सर्जन से सम्बन्धित है। मेरा अपना ख्याल है कि सर्जनात्मक क्षण में व्यक्ति उत्कृष्टता के भाव को लेकर नहीं चलता है। आगे बढ़ाने वाली शक्ति यह नहीं होती है जो उच्चकोटिता की बात कहे, बल्कि यह कहती है कि उसे सच कहना है। यदि सर्जन में परंपरा को भूलेंगे तो उत्कृष्टता को छोड़ देंगे यह डा० देवराज की दूसरी बात थी। यह भी भ्रामक है। क्योंकि आज के कवि की टक्कर कालिदास से नहीं है। मेरी टक्कर परंपरा से नहीं परंपरावादी से है। यदि ठेठ शब्दों में कहूँ तो डा० देवराज की बात के अनुसार पिछले ६० वर्ष में जो कुछ लिखा गया है वह परंपरा के आग्रह के साथ ही लिखा गया है। क्या वह अत्यन्त उत्कृष्ट है? इसलिए मूल प्रश्न यह है कि जब हम सर्जन के लिए लगते हैं तो क्या इसकी स्वतंत्रता रहती है कि हम उत्कृष्टता और परंपरा का आग्रह रख सकें। हमारे लिए सहारे का उतना प्रश्न नहीं है जितना स्वयं खड़े रहने का है। पश्चिम अथवा परंपरा से लेकर ही केवल उत्कृष्टता की रचना नहीं की जा सकती। हमारे पास चुनाव का अपार अवसर है। अनुप्राणित व्याकुलता का हमारा अनुभव ही हमें कुछ टिका सकता है। यदि हम अपने भीतर की व्याकुलता को दबाते अथवा रोकते हैं तो ईमानदार नहीं हो सकते। प्रभुत्व सम्मत व्याकुलता परंपरा सम्मति आदि के मुक़ाबले व्याकुलता के सार्वभौमित्व को ही प्रमुखता देती है।

तीसरी बात, जब-जब आदिवासी समाज और औद्योगीकरण में टकराहट होती है तो

आदिवासी समाज नष्ट होता है। यह (रमाशंकर) पांडे जी का कथन है। यह बहुत सारे लोग सोचते हैं, किन्तु औद्योगीकरण ने दुनिया के $\frac{1}{5}$ हिस्से में जगह पाई है बाकी हिस्से में आदिवासी समाज को ही स्थिरता मिली है। वस्तुतः ऐतिहासिक शक्ति के चुक जाने की बात जब तक हम नहीं मान लेंगे हम सर्जक नहीं रहेंगे, केवल ग्राहक ही रहेंगे। चुक जाने को महसूस करना आधुनिकता को समझने की पहली कड़ी है। औद्योगीकरण और आदिवासीकरण में कोई समन्वय नहीं है। आधुनिकीकरण से इसको मिलाना ठीक नहीं।

डा० शंभूनाथ जी और प्रो० राजाराम शास्त्री के प्रश्न, कि क्या आधुनिकीकरण पेरेनियल फ़ेनामेना है अथवा युगाभिमुख। मुझे इस प्रश्न में कोई संशय नहीं दिखता। आज से १०० वर्ष आगे हो सकता है कि हम आधुनिक न कहे जायें। हमारा तर्क भी उस समय आधुनिक नहीं कहा जा सकता। किन्तु यदि १०० साल बाद आज के चुक जाने की बात कही जाती है तो निःसंदेह वे आधुनिक होंगे। आज हम २०वीं सदी में कबीरदास को उनके समवर्तियों से आधुनिक कहते हैं। ऐसा एक नये बौद्धिक विश्व की कसौटी पर आधुनिक कहा गया है। वह अपने आप में आधुनिक नहीं हैं जब हमने उन्हें पलट कर देखा तब वह आधुनिक हुये। पहले जो इतिहास का स्तर था, उसे हमने पीछे छोड़ दिया। आज स्तर बदल गया है। सूत्र वही पुराना है किन्तु उसका लेबिल बदल गया है। आधुनिकता की शर्त इतिहास के नये तल को समझना ही है।

जगन्नाथ उपाध्याय—ने आधुनिकता की स्थिति को भारतीय दर्शन की पृष्ठभूमि में स्पष्ट करना चाहा। भारतीय दर्शन में आधुनिकता का जो अर्थ दिया गया है उसकी दो धाराओं की ओर उन्होंने ध्यान दिलाया। वे धाराएँ सत्तावादी और असत्तावादी हैं। पुरानी भाषा में सत्तावादी धारा में आधुनिकता, शक्ति का उन्मेष है जिससे स्वतंत्रता का बोध होता है। स्वातंत्र्य अन्त में निरपेक्षता देता है। इसलिए वह दैशिक कालिक सीमाओं से अलग होता है। वस्तुतः यह देशकाल में डूबा रहता है किन्तु उससे उत्तीर्ण हो जाता है। ज्ञान की इच्छा से क्रिया होती है, जब यह स्वातंत्र्य होती है तो सर्जनशीलता आती है। यह निरपेक्ष स्वातंत्र्य व्यक्ति को मिलना चाहिये। ज्ञान, इच्छा और क्रिया का भोग मनुष्य को मिलना चाहिये, देश काल हमारे स्वातंत्र्य का विलास है। इसमें सब को भोग दिलाना इसका आदर्श है। मोक्ष क्रिया-शक्ति का अधिकाधिक उन्मेष है। सीमाओं को तोड़ने पर उन्मेष बढ़ेगा! सामाजिक क्रियाओं को परिष्कृत करते हुये ही क्रियोन्मेष होगा, यह व्यक्ति को देना है। उसमें पीछे का समस्त प्राचीन और आगे का भविष्य है। यह वह संधि स्थल है जहाँ व्यक्ति है, उसके सामने समाज खड़ा है और भोग कराना उद्देश्य है। यह स्वभाव वृत्ति अथवा सत्तावादी दृष्टि है। असत्तावादी दृष्टि से, व्यक्ति उपार्जित है। वह सस्वभाव नहीं है। वह उधार लिया हुआ है। उसने धार्मिक सांस्कृतिक सम्बन्धों, देश को स्थापित किया है। सम्बन्धों का भेदाभेद है। एकांततः भेद या अभेद है। वह सम्बन्ध ही नहीं है इससे अरिरिक्त है। वह यदि भेदाभेद न हो तो हीन का उद्धार नहीं होगा। विशिष्ट सामान्य नहीं बनता। विशिष्ट सामान्य की दृष्टि से देखा नहीं जाता। व्यक्ति सम्बन्धों का संपुजन है। व्यक्ति को देखना है तो सम्बन्धों को देखना है। यह अनादिकाल से है। सम्बन्धों को व्यक्ति तोड़ सकता है। सम्बन्ध और सम्बन्धों की स्वाभाविक सत्ता नहीं है।

सम्बन्ध कृत्रिम और हमारे उपार्जित हैं। यह इतिहास का दिया है। व्यक्ति समस्त के बीच का कन्द्र है। तो इससे एक दृष्टि आती है, वह निःस्वभावता की दृष्टि है। नाम लेते ही समस्त सम्बन्ध प्रकट होते हैं। जब यह सम्बन्ध स्वयं में निःस्वभाव हैं तो उसे निरासक्ति होना है। तब वह सम्बन्धों से वर्तमान क्षण में वियुक्त होगा। जब वह अपने को विधाता समझेगा। और 'मैं' के अक्षुण्य न होने से परिचित होगा तो उसमें से मूल्य निकलेगा। 'है' और 'नित्य सत्ता' नहीं है तो इसके बीच एक मूल्य 'मैं उपाय करूँ', यह पैदा होता है। तब जगत् के उद्धार की बात सोची जाती है। नयी कल्पना, नये आदर्श के लिए उसमें करुणा का उन्मेष होता है। नया बनता है। इसलिए लेखक और कवि—रचनाकार की भूमि निःस्वभावता की है। जब शून्यता, निःस्वभावता सिद्ध हुई तो सभी तरह के संप्रदाय, कला सौंदर्य आदि का जन्म हुआ। जैसे जब नागार्जुन ने संसार की निःस्वभावता सिद्ध की तभी उसमें कवि पैदा हुआ। इस प्रकार जगत् को देखने की दृष्टि भी एक आधुनिकता है। यह दृष्टि वर्तमान की दृष्टि है जिसमें आगत विगत सभी समाया हुआ है।

नेपाली—ने अपनी बात समाजशास्त्र की अध्ययन पद्धति से आवेशित होकर कही। उनका कहना था कि जहाँ तक परंपरा और आधुनिकता का सवाल है आप लोगों की अध्ययन पद्धति से हमारी अध्ययन पद्धति भिन्न है। हमारे यहाँ १५० वर्ष पहले बुराई दूर करने के बारे में जैसा कि आप सोच रहे हैं, सोचा जाता था। सामाजिक सुधार करने के लिए अध्ययन की ग़लती को बाद में समझा गया।

जब हम आधुनिकता की बात करते हैं तो हमें आविष्कार आदि को भी देखना है। प्रणाली में अनुप्रवेश ही आधुनिकता है जो एक पद्धति से आता है जिससे संस्कृति में कुछ जुटता है, बदलाव आता है, ऐसी स्थिति में सामंजस्य स्थापित करना होता है। बदलाव या परिवर्तन इनोवेशन, इन्वेन्शन और टेक्नालाजी से होता है। आधुनिकता को किस रूप से लिया जाय? क्या परिवर्तन आधुनिकता है? आधुनिकता और परंपरा का अध्ययन विशुद्ध वैज्ञानिक स्तर पर लेना चाहिए।

समाज क्या है, वह कैसे कार्य करता है? इस दृष्टिकोण को अपनाया जाय। आप भावनात्मक दृष्टिकोण से तथ्यों को लेते हैं। जब कि वैज्ञानिक दृष्टि सामाजिक प्रक्रिया और तथ्य को नंगे रूप में देखती है और इसके आधार पर अवधारणा का निर्माण कर समाज निर्माताओं को दिया जाता है। जब तक किसी परिभाषा को ठीक से सोचा नहीं जायेगा तब तक विचार-विमर्श साफ़ नहीं होगा। इसलिए बात पारिभाषिक निर्धारण के बाद होनी चाहिये।

सुब्रह्मण्यम—डा० नेपाली ने कहा कि आधुनिकता को भावनात्मक और वैज्ञानिक स्तर पर अलग रख कर विचार करना चाहिये, किन्तु यह संभव नहीं है। हम यह मानते हैं कि परंपरावादी दकियानूस थे और यदि पहले के समान फिर कोई दकियानूस होता है तो वह आधुनिक नहीं है।

रमाशंकर पांडे का स्पष्टीकरण—बहस के स्तर पर सामाजिक संकट के विश्लेषण के लिये प्रो० रमाशंकर ने अध्यक्ष से थोड़े समय की और माँग की। उन्होंने विश्लेषण करते हुये कहा कि सामाजिक प्रणाली के सामने चुनौती कुछ हद तक आंतरिक है। यदि बाहरी

है तो कुछ हद तक कम। जो यह मानते हैं उनका कहना है कि बाहरी प्रभाव के मुक़ाबले आन्तरिक चेतना से यह तनाव अधिक पैदा हुआ है। यदि यह मान्यता ठीक है कि संकट बाहर से है तो हमारी उसके प्रति प्रतिक्रिया है। अभी एक बात सर्जनशीलता और ग्रहणशीलता की उठी है। विचार की दृष्टि से ये प्रतिक्रियाएँ महत्त्वपूर्ण हैं। व्यक्तिगत रूप से मेरी इससे सहमति भी है। किन्तु यदि परंपरा में फेर बदल मान लिया जाय तो प्रतिक्रिया का स्वरूप क्या है? प्रमुखता की दृष्टि से सर्जनशीलता से ग्रहणशीलता ही का महत्त्व अधिक है! आज के नागर औद्योगिक परिवर्तन की अनुभूतियों को ठीक-ठीक समझना आवश्यक है। ग्रहण से सर्जन लगा है। ग्रहण को सर्जन से गौण स्थान देकर संस्कृति का विश्लेषण करना मुश्किल है। माडल बना लेने पर रचना सुगम हो जाती है और उसे सही दिशा मिलती है।

ब्रजकुमार पांडे—आधुनिकीकरण की आज की समस्या निम्न मध्यम वर्ग से पैदा हुई है। कोई चीज़ पश्चिम से नहीं आई है, यह हमारे बीच से बात उठी है। मध्यम वर्ग की तीन स्थितियाँ, प्रतिभाहीन विलासिता, प्रतिभाहीन विवशता और प्रतिभाहीन कर्मठता की है। प्रतिभाहीन विवशता के कारण मध्यम वर्ग बहस करता है किन्तु न वह कुछ कर पाता है न उसकी कोई दिशा होती है। आधुनिकता की बहस में एक बात छूट गई। यूरोप पुनर्जागरण से आधुनिक नहीं हुआ है। आधुनिकीकरण अवश्य इन क्रांतियों से हुआ है। हमारे यहाँ सभी क्रांतियाँ एक ही युग में हुई हैं जब कि यूरोप में एक-एक बात एक-एक युग में आई।

बहस में टेक्नलाजी की बात बार-बार उठी। इस देश में टेक्नलाजी का विकास इतनी तेज़ी से हो रहा है जिसे समाजशास्त्री पकड़ नहीं पा रहा है और हीनता का अनुभव करता है, क्योंकि यहाँ देशी वैज्ञानिक पश्चिम से प्रतिबद्ध हो जाता है। फिर वह धर्म ग्रंथ लिखता है, पूजा करता है और समाजशास्त्री भौतिकता की बात करता है। हमारे देश का पूरा इतिहास आदर्श आदर्श के विरोध का रहा है भौतिकतावाद और आदर्शवाद का नहीं। एक बात यहाँ साफ़ हो जानी चाहिये कि दुनिया के अंतर्गत एशिया का इतिहास अलग है। यहाँ की बौद्धिकता का सवाल अलग है। अमरीका और अफ्रीका का इतिहास नया है इसलिये उसकी बौद्धिकता का सवाल अलग हो गया है। इस पर डा० रघुवंश ने कभी अपने एक निबंध में चर्चा की थी। इस पर विचार करना है। आज का सवाल निम्न मध्यमवर्गीय बौद्धिकता का है। वह न नगर की है न गाँव की है। वस्तुतः यह प्रतिभाहीन विवशता से प्रतिभाहीन कर्मठता को अपनाने का सवाल है।

पुरुषोत्तमदास खत्री—जब से विकासवाद का प्रारंभ हुआ है तब से मानव समाज में कुछ नया सोचने की बात का प्रारंभ हुआ है। आधुनिकीकरण पर विचार विमर्श को मैं इसी स्तर पर लेता हूँ। चक्र गति की दृष्टि से जो समाज की क्रियाशीलता को देखता है उसके लिए कोई भी बात नई नहीं है। वस्तुतः हमें सबसे तीव्रतम वस्तु, गति को ग्रहण करना है। यदि ऐसा नहीं करेंगे तो विचार को निरर्थक ढोना होगा। मेरी दृष्टि में आधुनिकता की स्थिति यही है।

सत्यप्रकाश मित्तल—परिवर्तन की आवश्यकता है, किन्तु उसकी दिशा क्या होनी चाहिये? संस्कृति और परिवर्तन में व्यवधान उत्पन्न हो गया है, यह मुख्य सवाल हैं। परंपरा

के लोकाचार और विश्वास से हमारा काम नहीं चलता, न अपनाये गये साधनों से हमारा काम चल रहा है। इसलिए व्याकुलता की स्थिति पैदा हुई है। हम पर तमाम यूरोप आरोपित है, हम अनुकरण में समस्त का अनुकरण करते हैं। वहाँ की कमज़ोरियों को आदर्श के रूप में लेते हैं, यही सर्जन में काम करने लगता है। किन्तु अब हम इसे नहीं ढो सकते। क्योंकि यह न हमारी विचार प्रणाली से मेल खाता है न यूरोप की। यूरोप के विचार की नक़ल ही यहाँ आ रही है टेक्नालाजी नहीं। इसलिए वहाँ की संरचना में टेक्नालाजी के जो परिणाम प्रकट हुये हैं वह यहाँ प्रकट नहीं हो सकते। इसलिए अब नया सवाल खड़ा है कि पश्चिम को किस रूप में लें। मूल्य के रूप में अथवा अन्य रूप में। हम अपने अस्तित्व को बनाये रखना चाहते हैं, आज आधुनिकीकरण की चुनौती अस्तित्व को बनाये रखने की चुनौती के रूप में लें। इसके लिए हमें प्रयत्न को, प्रक्रिया को अग्रसित करना और हल निकालना होगा। एक मौलिक परिवर्तन के लिए चुनौती को स्वीकारना होगा। और अवास्तविक परिस्थिति से लोगों को उबारने वाले चिंतक देश में पैदा करने होंगें।

अध्यक्ष प्रो० राजाराम शास्त्री का समाहार—आज की बैठक में इतने विचार आये कि उनका समाहार कठिन है। कुछ सवाल उठे कुछ नहीं। जो नहीं उठे उनकी चर्चा संभव नहीं, फिर भी हमने पूरी बहस से कुछ नतीजे निकाले हैं।(१) परिभाषा का सवाल उठाया गया और यह भी कहा गया कि आधुनिकता स्वंय आधुनिक है कि नहीं। आधुनिकता का एक यह भी अर्थ है कि कौटिल्य अपने ज़माने में आधुनिक थे, क्योंकि उन्होंने परलोकवाद के मुकाबले लोकवाद जोड़ा। इस प्रकार आधुनिकता का एक परंपरागत आधार भी हो सकता हैं। एक बात और। भारत की आधुनिकता और आज की आधुनिकता दो बातें हैं। किसी ज़माने में जीवन की उच्चतम प्रवृत्तियों से प्रसूत बात आधुनिक थी। नई समस्याओं को जो प्रविधियाँ हल करती हैं वे नूतन, नवीन और उन्नत हैं। अपने ज़माने में नवीन प्रविधियों से काम लेने वाला आधुनिक है, नहीं तो परंपरावादी। साही जी का यह दृष्टिकोण कि विरोध परंपरावाद से है परंपरावादी से नहीं, ठीक ही है।

आज की आधुनिकता की नवीन प्रविधियाँ क्या हैं, इसे देखना पड़ेगा। इसके लिए सर्व प्रथम एक परिभाषा निर्धारित की जाय। मेरी दृष्टि में आज की आधुनिकता का मूल साधारणता में है जो जन साधारण के लिए स्वाभाविक, उपयुक्त है वही आधुनिक है। साधारणजन से परे चीज़ आधुनिक नहीं है।

जैसे चरित्र की बात लें। मेरा ख्याल है चरित्र का महत्त्व आज की आधुनिकता में नहीं है। सौजन्य का महत्त्व है। एटिकेट महत्त्वपूर्ण है कैरेक्टर नहीं। शालीनता, शिष्टाचार या सौजन्य आज की विशेषता है, यह साधारण जन की बात है, आधुनिक है। चरित्र कुछ लोगों की बात है, वे जन साधारण से अलग रहते हैं। जन साधारण से आडम्बर के साथ मिलते हैं। लोगों से हमें जोड़ने वाली चीज़ सामाजिक आवश्यकता है, चरित्र नहीं। ब्रह्मचर्य का तेज है। इस तेज को धारण करने वाले लोग हों। किन्तु इस आधार पर कोई काम करना; मत बनाना आधुनिकता नहीं है। यह हमें साधारण जन से अलग करता है। विशिष्ट बनाता है। यह साधारण जन में नहीं चल पाता। जन साधारण को समाज का डर लगता है। यह

बात असल है तो निश्चय ही आधुनिक है। विशिष्ट जन महामानव, इलीट् का युग गया। नेतृत्व की अस्वीकारता जैसा कि डा० हरिश्चन्द्र ने कहा, आज आधुनिकता है। साधारण जनोचित कमजोरियों पर व्यक्तित्व का निर्माण आधुनिक है। पूजा करना व्यक्तिगत रूप से अच्छा हो सकता है किन्तु यदि उसका प्रदर्शन होता है तो उसमें पूजा कम अहमन्यता अधिक है। यह नया नहीं। आज धर्माचरण को व्यक्तिगत व्यसन, हाबी के रूप में ही रखा जा सकता है। आचरण की धौंस जमाना अपने को विशिष्ट सिद्ध करना है, यह आधुनिक व्यवहार नहीं है। इसके सैद्धान्तिक निहितार्थ को देखिये। चिंतन पाज़टिव नहीं नारमेटिव होना चाहिये। विधेयात्मक विचार और मूल्यात्मक विचार दोनों में एक ही कोरोलरी है। मांसभक्षण का विरोध इसलिये करना कि हम मांस-भक्षी से उच्च हैं, आधुनिकता नहीं है। इसलिये परिणामों के आग्रह की अपेक्षा रुचि भेद आधुनिकता है। नारमेटिव विचार में एक अहमन्यता है जिसे लेकर आगे नहीं बढ़ा जा सकता है। यह विधेयात्मक शैली से हो सकता है। क्योंकि इसमें मानव के सम्मान की बात निहित है। मनुष्य ने जो किया है उससे वह जीता है, आदर्श सिखाने से नहीं। स्वंय आदर्श भी मानव व्यवहार है। आदर्श बना लिया गया है। व्यवहार की चीज़ का ज़ोर होता है उसी से आदर्श बनता है। इस प्रकार दो परिणाम निकले (१) आधुनिकता मूल्य आस्तिक नहीं होती। (२) बुद्धि के स्तर पर तर्क, लाजिक और युक्ति आधुनिक है जिसे सभी समझ सकते हैं।

प्रातिभज्ञान, इलहाम या प्रतिभा कुछ लोगों में होती है। यह आधुनिक नहीं है, क्योंकि यह जन साधारण को उपलब्ध नहीं है। इस प्रकार जहाँ पर इलहाम, परलोक और आस्था होती है, वह आधुनिक नहीं रहता। व्यक्तिगत अनुभव जनतांत्रिक नहीं है। सबके अन्दर निहित एक प्रक्रिया के स्तर पर समझा देना आधुनिक है। कला की बात लीजिये देववाद पुराना हो गया है। प्रतीकवाद आधुनिक है। सरस्वती को यदि प्रतीक के रूप में लेते हैं तो यह समझ में आता है। देववाद, परलोकवाद, विश्वासवाद, स्वभाववाद और सत्तावाद आधुनिक नहीं हैं। प्रतीकों का मामला हर एक को समझ में आता है। पुरानी सरस्वती विश्वास में नहीं रहती प्रतीक में रहती हैं।

(२) उपाध्याय जी की एक मार्मिक बात भोग को लें। भोग मानवजनित है। इसे कहीं जगह मिलनी चाहिये। मैं कहना चाहूँगा कि भोगवाद, त्यागवाद से ज़्यादा आधुनिक है। प्रयोजन में अनासक्ति तो ठीक है, किन्तु व्यवहार में अनासक्त होकर रहना पुरानी बात है। आधुनिकता सबकी प्रकृति में और सबको उपलब्ध हो। साधारण जन भोग या और कुछ कहाँ तक एलाऊ करते हैं यह किसी ओढ़े हुये उपदेशवाद से नहीं पैदा होगा।

कला में ही एक और बात शैली को लीजिये। शैली चमत्कार प्रदर्शन में भी अहंकार की भावना है। आज उस कलाकार को आधुनिक माना जाता है जिसकी शैली का पता ही न चले। पाठक जब पढ़ते समय कवि की बात सोचने लगता है तब कवि अलग ग्राहक हो जाता है, यह आधुनिक नहीं है। इसलिए चमत्कार आधुनिक नहीं है, आज 'नहीं होता है।' आधुनिक है, 'नहीं होना चाहिये' पुराना है। दंभों को न छिपाना सभ्यता में आज पहली बार प्रकट हुआ है।

(३) तीसरी बात सर्जन और ग्रहण की लीजिये। आज सर्जन का नहीं ग्रहण करने का ज़माना है। सर्जन परिस्थिति करती है व्यक्ति कहा करता है। अनाम साधना से शनैःशनैः सर्जन होता है।

(४) विश्लेषण और निर्णय की बात भी लें। आज का दिमाग़ विश्लेषक अधिक है, निर्णायक कम। जो निर्णय देते हैं वह अपेक्षतया आधुनिक नहीं हैं। बुद्धिजीवी का काम विश्लेषण करना है। निर्णय कभी चलता नहीं है। निर्णय समाज, जनता देती है। निर्णय देना आडम्बर है। उत्तरदायित्व की बात भी व्यर्थ और पुरानी है। यह सफ़ेदपोशी का भार है। इसमें विशिष्टता का आडम्बर है। एक मानव दूसरे मानव से ऊँचा है, इससे आदर्श की व्यर्थता ही सिद्ध होती है।

(५) ज्ञान और आधुनिकता के सम्बन्ध को भी देखें। एक, कांसेप्चुअल ज्ञान है जिसमें प्रत्यय ही प्रत्यय है। दूसरा, समस्या, हलमूलक ज्ञान। ये दो चीज़ हैं। दूसरा आधुनिक है। यह जन-साधारण की पहुँच में है। पहला केवल प्रतिभा के नशे में चूर जनसाधारण से दूर है।

(६) अन्त में आधुनिकता के अनिष्ट पक्ष को लें, यदि औद्योगीकरण को आधुनिक कहें और आदिवाद को पुराना तो इसमें फ़ैसला कैसे हो? विकास पतन को उत्पन्न करता है। नई तकनीक से पूर्व की समस्याओं को हल करना एक दूसरी बात है, किन्तु नई तकनीक की नई समस्याओं के कारण इसे छोड़ा नहीं जा सकता है। इसके कारण पीछे नहीं जाया जा सकता। नये मानव मूल्यों को स्थापित करने के लिए नया हल निकालना होगा। इसके लिए पीछे नहीं लौटना होगा। इस स्तर पर आधुनिकता में सब कुछ शुभ ही शुभ है, अशुभ नहीं इसे भी समझना है। साधारण जन, सामान्य मानव है, सारे संसार का मानव है जो सबको एक करे। साधारण जन में स्तरीकरण को कम करे। सोपानीकृत न करे। यह आधुनिकता का अनिष्ट पक्ष है। वस्तुतः आधुनिकता के लिए साधारण जन को भी तैयार करना है। यह अभी बना नहीं है, साधारणता में अभेद होना चाहिये किन्तु अभी यह भेदयुक्त ही है।

तीसरी बैठक (दिशा)

गणेश प्रसाद उनियाल—आधुनिकीकरण है क्या? इस प्रश्न से डा० उनियाल ने अपनी बात प्रारंभ की उन्होंने कहा कि एक समाजशास्त्र के विद्यार्थी के लिए तो आधुनिकीकरण—व्यक्ति की स्वतंत्रता है। विश्व, समाज, राज्य सब व्यक्ति के लिए हैं। व्यक्ति इनके लिए नहीं है—यह व्यक्तिवाद है। व्यक्ति में केन्द्र विन्दु क्या है? भावना और मनोवृत्ति नहीं, बुद्धि केन्द्र विन्दु है। इससे विज्ञान और टेक्नालाजी आती है। परम्परा-विरोध आता है। मानव इतिहास एक प्रगति का इतिहास है, इसका केन्द्र विन्दु नया नगर है। भारत में आधुनिकी-

करण का प्रारंभ नये नगर से प्रारंभ होता है। नया नगर हमारे समाज की उपज नहीं है, इस लिए मध्यम वर्ग हमारे समाज की उपज नहीं है। इस कारण इसमें कोई दर्शन नहीं है, बस एक विचारों की खिचड़ी है। यहाँ लाये गये नगर में अवश्य एक मध्य वर्ग पैदा हुआ, जो बुद्धिवादी है। इस प्रकार नये शहर में बुद्धिजीवी पैदा हुआ। यह लौकिक है और व्यक्तिवादी भी। यही तथाकथित आधुनिकता का अग्रदूत रहा है। इसमें राष्ट्रीय स्वतंत्रता है। यह तथोक्त बुद्धिजीवी के लिए सबसे बड़ी चीज़ है। यह बुद्धिजीवी अथवा मध्यम वर्ग उन्नति करना चाहता था और इसके लिए भाग दौड़ की बात इस बौद्धिक वर्ग की समस्या थी। किन्तु भारत की एक पुरानी सभ्यता रही है। दास देश जिसकी परंपरा रही है वह सदैव अनुपूर्त्तक हीनता प्रकट करता है। आज के नये शहरी मध्यम वर्ग ने आधुनिकता को ग्रहण किया है। इनका ग्राहक दिमाग़ है। टैगोर और नेहरू ने हमेशा अंग्रेज़ी सभ्यता की दुहाई दी। यदि ग्रहण करने वाली चीज़ जैसे इंग्लैंड की लिबर्टी, ग्रहण करने लायक़ हो तो ग्रहण की जाय तो ठीक है, किन्तु सब कुछ लाद लेना अतिवाद है। और यहाँ आधुनिकीकरण अतिवादी लोगों से आता है। आज बुद्धिजीवी नेतृत्व नहीं पकड़ना चाहता है। आधुनिक पुनर्जागरण का नेतृत्व शहरी मध्यम वर्ग ने किया है, किन्तु अब इसमें कोई जान नहीं है। अब तो शहरी मध्यम वर्ग अपने को दिन प्रतिदिन सुरक्षा और निश्चितता की ओर बढ़ा रहा है।

शरत कुमार—प्रत्येक समाज की कुछ आवश्यकतायें होती हैं। प्रत्येक समाज का अलग-अलग स्तर होता है। इन स्तरों के द्वारा प्रयत्न की पूर्ति होती है। मेरी दृष्टि में जो क्षेत्र अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति में सफल होता है, वह आधुनिक है, जो असफल होता है वह आधुनिक नहीं है। यही बात मैं भारत के संदर्भ में लागू करना चाहूँगा। भारत आवश्यकता की पूर्ति में असफल रहा है, इसलिए यहाँ आधुनिकता नहीं है। इसका कारण यह भी है कि आज के भारतीय समाज की संरचना आधुनिक नहीं है। हमारी आज की आवश्यकता की पूर्ति इसमें नहीं हो रही है। पुरानी संरचना के कुछ अंग यथा जाति आदि इसमें स्पष्ट रूपेण बाधक हैं। ऐसा इसलिए है कि हर सामाजिक संरचना के पीछे एक वैचारिक आधार होता है। जो उसे क़ायम रखता है। जिसे तथाकथित मध्यम वर्ग, प्रगतिवादी अथवा बौद्धिक तोड़ने में असफल रहे हैं। आज के बौद्धिक वर्ग का यह कर्तव्य है कि ग़ैर आधुनिक संरचना के बौद्धिक आधार को तोड़ने का कार्य करें। किन्तु ब्राह्मण वर्ग अथवा उनसे प्रभावित लोग इस आधार को नहीं तोड़ रहे हैं। इसमें वे अपना हित नहीं पाते हैं। अब इसे एक नया बौद्धिक वर्ग करेगा जो शोषितों से पैदा होगा।

रमेशचन्द्र तिवारी—आधुनिकीकरण की अवधारणा आधुनिक है। इसका कारण इसकी कुछ विशिष्ट पहचान है। यह एक विशेष प्रकार के दृष्टिकोण और कसौटी को लेकर काम करता है। यह है परम गतिशीलता, जो मानसिक क्षेत्र की है। इस दृष्टिकोण के अनुसार कोई भी संरचना शाश्वत नहीं है। उसे बदला जा सकता है। इसलिए आधुनिकता में शाश्वतता की बात नहीं की जायेगी। हाँ, एक गतिशीलता की बात अवश्य की जायेगी। अब न हम वेद को मानते हैं न वय को। जो हम सोचते हैं, उसे ही सही मानते हैं। शासन, शिक्षा और अन्य क्षेत्रों में अब सहभागिता के रूप में आधुनिकता है। गतिशीलता को तमाम चीज़ों

मसलन औद्योगीकरण ने बढ़ाया। साधारणता के साथ भी परमगतिशीलता की बात जोड़ी जा सकती है। इसी प्रकार हम एक मत इसलिए नहीं हो पाते, क्योंकि हम तीव्र गतिशील हैं। हम अपने को पूर्णरूपेण मुक्त करने का प्रयत्न करते हैं, इसलिए शून्य तक की बात करते हैं। यह सब गतिशीलता के लक्षण हैं जो आधुनिक है।

मुरलीधर भगत—आधुनिकीकरण की समयस्या आखिर है क्या? और भारत के संदर्भ में यह क्या हो सकती है? मैं इस प्रसंग में अपने सोवियत संघ के प्रवास के अनुभव को यहाँ प्रकट करना चाहूँगा। सोवियत संघ में वहाँ की सामाजिक संरचना में काफ़ी परिवर्तन हुआ। वहाँ भी ऐसी समस्या पैदा हुई और अभी है। एक उदाहरण 'बैले' का लीजिये। इस क्षेत्र में जो कुछ फ्रांस ने सिखाया वह अब भी उसी रूप में है। वहाँ लोग सोवियत चिह्न को कहीं भी नहीं छोड़ना चाहते। यह एक परंपरा है। यद्यपि आधुनिक बैले के लिए एक बाधा है। आधुनिक बोध और आर्थिक संरचना, विचार आदि बातों के सिलसिले में बहुत कुछ ऐसा ही है। आधुनिकता में केवल विचार का रोल बहुत बड़ा नहीं है, टेक्नालाजी का रोल भी बहुत बड़ा है। रूस की सारी भारी कोशिशों के बाद भी एशियायी रूस में परंपरा छूट नहीं पाई है। यद्यपि इससे मुक्ति के लिए काफ़ी सुविधाएँ कम्युनिस्ट पार्टी को दी गई हैं। वहाँ आधुनिकीकरण परंपरा पर असर नहीं डाल पाया है। आर्थिक परंपरा, परिवर्तन तथा शिक्षा दीक्षा और टेक्नालाजी से भी फ़र्क नहीं आया है। इसलिए आधुनिकता में सब कुछ जड़मूल से बदल जाना नहीं है। निरंतरता का भी अपना कुछ दखल होता है। आधुनिकता में बेचैनी प्रकट करके बस पुरानेपन को हम थोड़ा धक्का दे सकते हैं।

चंद्रबली सिंह—आधुनिकता के प्रसंग में पश्चिमीकरण के उठाये गये सवाल में मैंने यह देखा कि पश्चिमीकरण से हम सभी डरते हैं। कुछ लोग परंपरा से विरुद्ध करने के कारण कुछ हीन भावना की उत्पत्ति का डर मानते हैं। जीवन में परिवर्तन के लिए जितनी चीजें विज्ञान या विचार के रूप में हों उसे हम ग्रहण करेंगे। किसी दूसरे देश की विचारधारा यदि नया निर्माण कर सकती है तो उसके ग्रहण करने से हमारा कुछ नहीं बिगड़ता। उदाहरण के लिए, बौद्ध धर्म के दूसरे देश में जाने से वहाँ की राष्ट्रीय जीवनी शक्ति पर कोई बुरा असर नहीं पड़ा। शिकायत के तौर पर एक बात और। हमारा दृष्टिकोण केवल मध्यमवर्ग की समस्याओं तक ही सीमित रहता है। यहाँ आधुनिकीकरण की सारी बात आम लोगों के जीवन से सम्बन्धित नहीं है। हम आधुनिकीकरण के रूप में पश्चिम के उन्नत विज्ञान को अपने देश में लाते हैं। इसकी कोई चाहे कितनी आलोचना करे यह अनुकरण नहीं है। क्योंकि पश्चिम के विज्ञान या तकनीक का प्रयोग करने का यह बिल्कुल मतलब नहीं है कि हम भी उन ग़लतियों को दुहरायें जो उन्होंने की। अब एक सवाल उठता है कि आधुनिकीकरण किसके लिए है? आधुनिकीकरण के द्वारा ऐसे समाज की रचना हो जिसमें करोड़ों दुःखी लोग सुख और राहत पा सकें। इससे अलग हट कर आधुनिकीकरण कुछ नहीं है। यदि बुद्धिजीवी वर्ग करोड़ों लोगों के राहत के लिए संघर्ष को नहीं देखता तो अपने दायित्व से च्युत होता है। आधुनिकीकरण का असर जीवन और रहन-सहन के हर पहलू पर होता है, फलतः परिवर्तन अवश्यम्भावी होगा। अपनी परंपरा के जीवन तत्त्वों का समन्वय हम नये तत्त्वों से किस प्रकार करें यह

जानना आवश्यक है। जब भी हम आधुनिकीकरण की बात करें उसे उचित संदर्भ कि, समाज की नियति क्या है ? व्यक्ति की नियति क्या है ? और उसे समाज को क्या देना है ? में रख कर बात करें। एक बात और, सामाजिक शक्तियों का जब साथ नहीं दिया जाता तो आधुनिकीकरण चाहने के बाद भी बदलाव नहीं लाया जा सकता।

थोड़ा पश्चिम के आधुनिकीकरण के स्वरूप को और लें। पश्चिम के आधुनिकीकरण में आधुनिकता की बात करने वाले लोग वे हैं जो समाज में अपने को निर्वासित पाते हैं, खंडित पाते हैं, निर्वासित हैं। परम्परा को स्वीकार करने को तैयार नहीं हैं। पश्चिम में एक दूसरे तरह का बोध भी है। जो अस्तित्ववादी थे वे मार्क्सवादी हैं। अनुत्तरदायी उत्तरदायी हैं। आत्मकेन्द्रित लोग वियतनाम की लड़ाई से प्रभावित हो रहे हैं। जबकि यहाँ यदि हम प्रदर्शन करते हैं तो हमारे सौंदर्यबोध को चोट पहुँचती है। इसलिए आधुनिकता को एक सबल भूमि देनी आवश्यक है।

कैलाशचंद्र मिश्र—सारी बहस में बग़ावत को आधुनिकता बताया गया। मैं नहीं समझता कि बग़ावत क्या है। मेरी दृष्टि में आधुनिक वही है जो समाज को पीड़ाओं से मुक्ति दे सके। मसलन असली आधुनिक वह है जो वेश्या का उद्धार करता है, यदि ये चीजें हमें पश्चिम से मिलती हैं तो लेनी चाहिये।

काशीपति त्रिपाठी—हम चाहे या न चाहें किन्तु आज हम परिवर्तन की एक बहुत बड़ी धारा में बह गये हैं। भारतीयता भी इसके भँवर में फँस गयी है, इस भँवर से उबरने के लिए हमें कुछ न कुछ करना है। लेकिन जो कुछ हमें करना है वह पुष्टकर हो, इस दृष्टि से करने का निर्णय लेना चाहिये। आधुनिकता की दिशा में इस पक्ष का समावेश नितान्त आवश्यक है।

कंचन कुमार—नई पीढ़ी के आगे मूल्य और मर्यादाओं का कोई महत्त्व नहीं है इसलिए जो कुछ हमारे पूर्व हुआ है वह व्यर्थ है। उसने केवल हमें बाँधा है। इन बाँधने वाली सभी कुछ वस्तुओं को हम त्यागते हैं। हमें उसी की ज़रूरत है जो हम आज अनुभव करते हैं, भोगते हैं। हमारे लिए यही आधुनिकता है।

चन्डीप्रसाद जोशी—मध्य युग के गर्भ से आधुनिकता का जन्म हुआ। आधुनिकीकरण को वैदिकता और आंग्लता को मानने वालों ने नहीं, बीच के लोगों ने पैदा किया। आज मध्यम वर्ग सम्पूर्ण भारत के बारे में सोचता है। यही आधुनिकीकरण की दिशा है।

विष्णचंद्र शर्मा—आधुनिकता निषेध का दर्शन है। इस अस्वीकार के साथ हम परंपरा को अस्वीकार करते हैं। आधुनिक लेखक निषेध को अपने जीवन की सबसे बड़ी उपलब्धि मानता है। मूल्यों की बात करने वाले लोग भ्रम पैदा करते हैं। आधुनिकता के नाम पर रूढ़िवाद को बढ़ाया जाता है। इनके प्रति लेखकीय निर्भीकता आवश्यक है। अन्यथा आधुनिकता का कोई अर्थ है।

देवराज—परंपरा की अवगति में जीना सोचना एक बात है। परंपरा का निष्कर्ष मानना एक बात है। यदि परंपरा को हटा दिया जाय तो विघटन दुःख आदि क्या है ?

दूसरे देश की परंपरा को समझना एक कठिन बात है। यदि हो सकता तो अच्छी बात है। यदि हम उसे नहीं जान सकते तो हम अपनी संस्कृति को जान कर परंपरा रहित भूमि से ऊपर उठ सकते हैं। अस्वीकृत किये जाने वाले दर्शन में भी कुछ न कुछ होता है। किन्तु अपने में अनास्था और अविश्वास नहीं होना चाहिये। इससे मरा व्यक्ति कुछ नहीं कर सकता है। जो अपनी इज्ज़त करता है वह प्रतिभाशाली लोगों को इज्ज़त करेगा।

मूल्य बोध कुछ जातियों को अधिक होता है कुछ को कम। स्थितप्रज्ञता और तटस्थता लगभग एक जैसी है। स्थितप्रज्ञता हमारा जातीय सौन्दर्य और नैतिक बोध है। ये हमारे कुछ मूल्य हैं। समझदार व्यक्ति अपनी मान्यता का बौद्धिक आधार खोजता है। मूल्य बोध के लिए नया दार्शनिक आधार प्रस्तुत करना आवश्यक होता है। 'मेरा देखना समस्त समाज का देखना हो जाय' यह चिंतन की मानो हुई प्रक्रिया है। जनता के बोझ के कारण बुद्धिजीवी अपनी मान्यता के अनुसार रह नहीं पाता है। जनता बौद्धिक ज्ञान विस्तार को नहीं जानती।

आधुनिकता की परिभाषा करें तो बात कुछ और साफ़ हो, आधुनिकता में साध्य की भावना प्रमुख है। साध्य को स्वयं देख कर निर्णय करना भी एक आवश्यक बात है। किन्तु एक बात ध्यान रखने की है कि मूल्यों के क्षेत्र में विज्ञान की तरह साध्य नहीं चलता है। मूल्य बोध को नया बौद्धिक आधार देने का प्रयत्न करना होगा। इसे अपने आधार पर बनाना होगा। किन्तु अंहमन्यता को लेकर चिंतक नहीं हुआ जा सकता है। साध्य का भाव जनता में पैदा करना होगा। 'नहीं मानना चाहिये' के विरुद्ध जेहाद करना होगा और जिन्हें लेना है उनके प्रति वातावरण तैयार करना होगा। तथा दोनों को भारतीय संस्कृति और परंपरा से लेना होगा।

निबंधकारों की प्रतिक्रिया—

हरिहरनाथ त्रिपाठी—आज जिसे हम आधुनिकता मानते हैं उसके अपने घटक हैं जो और युगों से भिन्न हैं। मैं यह निष्कर्ष निकालता हूँ कि व्यक्तित्व की पूर्णता के लिए विज्ञान और प्राद्योगिकी से हमें बहुत कुछ लेना है।

लक्ष्मीकांत वर्मा—मुझे सारी बहस से यह लगा कि (१) बौद्धिक कौन है इसकी परिभाषा करते हुये मात्र लेखक को ही बौद्धिक समझ लिया गया। (२) लेखक का काम राजनीति से उलझना नहीं है यह मत लेखकों के बीच काफ़ी दिनों तक रहा। अब राजनीति, अर्थशास्त्र और साहित्य को एक दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता (३) आधुनिकता के विषय में जवाहरलाल और गांधी की आधुनिकता में फ़र्क है। जवाहरलाल की आधुनिकता एक रोमांटिक आधुनिकता है। १९४७ के बाद हम भावुकता से यथार्थ की ओर बढ़े हैं। जवाहरलाल की आधुनिकता भावुकता की आधुनिकता थी, उसमें विवेक नहीं था। आज आधुनिकता की पहली शर्त आग्रह से रोमांटिक विरोधी होना और विवेक को साथ लेना है। डॉ० देवराज ने कहा कि परंपरा से मनुष्य मनुष्य बनता है। किन्तु परंपरा ने मनुष्य को हैवान बना दिया। जिस संस्कृति में रिजेक्शन की क्षमता होती है वही महान् है।

आधुनिकता का पहला लक्षण साध्य सम्मत होना है डॉ देवराज की इस बात को मैं मानता हूँ। किन्तु इसके साथ-साथ आधुनिकता का कोई अर्थ नहीं है जब तक उसका सम्बन्ध सम-सामयिकता से न हो। क्षण-क्षण के यथार्थ के भोग में भाग लेने की क्षमता आधुनिकता है।

१९४७ के बाद भोग का दर्शन हमने नहीं बनाया। इसलिए 'मिठाई तो रखी है किन्तु हाथ कटा है' की स्थिति ही यह आधुनिकता का दूसरा लक्षण है। यहीं बात इनडिफ़रेंस की भी आती है। इस डिफ़रेंस की मनोवृत्ति से नितान्त समसामयिक हुआ जा सकता है। किन्तु इनडिफ़रेंस विवेक के आधार पर होना चाहिये।

रघुवंश—बहस में परंपरा का काफ़ी पिष्ठपेषण हुआ है। परंपराओं को मैं केवल चुनौतियों के रूप में स्वीकार करता हूँ। हमारे लिये भारतीय परंपरा भी चुनौती रही है और आधुनिक पश्चिम भी। आधुनिकता की अपनी प्रकृति है जिसे परिभाषा के ढाँचे में नहीं बाँध सकते हैं। संचरणशीलता में शाश्वत सार्वभौम मोह प्रकट करना अपने आप ही होता है। आधुनिकता कोई गिनाया जाने वाला मूल्य नहीं है। वह मूल्यों की प्रक्रिया है। यह सर्जन की प्रक्रिया है। यह मूल्यों की उपलब्धि में जकड़ी नहीं जाती है। केवल अनुभव कराती है। पश्चिम में आधुनिकता अपने अगले संचरण को गति देने के लिए प्रयत्नशील है, संस्कृति की स्थिरता को अवरोध से बाहर निकाला जाय। इतिहास की प्रक्रिया को हमने लक्ष्मीकान्त जी के सम सामयिकता के गहरे सन्दर्भ को क्षण भर के अनुभव के रूप में ही माना है। मानववाद को हमने नये संदर्भ में जानना सीखा है, अधिक असंपृक्त और तटस्थ होकर। और सर्जनशीलता मूल्यों को जुटाती नहीं अनुभव कराती है।

• • •

नटरंग

भारतीय रंगमंच का त्रैमासिक

संपादक : नेमिचंद्र जैन

चौथा अंक समकालीन भारतीय रंगमंच पर विशेषांक है। उसकी योजना इस प्रकार है : कुछ प्रमुख रचनाएँ—बँगला, मराठी, उड़िया के व्यावसायिक रंगमंच का सर्वेक्षण, हिन्दी रंगमंच और निर्देशक ★ बंगला और मराठी रंगमंच पर अभिनय शैलियों का विकास ★ बहुरूपी : एक अनोखा नाट्य संगठन ★ गुजराती रंगमंच और लोकप्रिय प्रदर्शन ★ मलयालम नाटकों में समसामयिक समस्याओं का चित्रण और कला मूल्य ★ पंजाबी ओपेरा : उपलब्धियाँ और समस्याएँ ★

प्रमुख लेखक—शंभु मित्र ★ ई० अल्काज़ी ★ सुरेश अवस्थी ★ आद्य रंगाचार्य★ कुमार राय ★ ध्रुव गुप्त ★ के० के० मुखर्जी ★ शांता गांधी ★ परितोष गार्गी ★ अमरनाथ पाठक ★ मोहम्मद हसन ★

वार्षिक शुल्क १०·०० विशेषांक ४·०० एक अंक २·५०

३ एफ़, जंगपुरा ऐक्सटेंशन, नई दिल्ली–१४

फ़ोन : ७०१६२

हिन्दी परिषद् प्रकाशन के अभिनव-ग्रन्थ

१. रामकथा : लेखक रेवरेंड फ़ादर कामिल बुल्के, द्वितीय संशोधित तथा परिवर्द्धित संस्करण। लेखक ने इस पुस्तक का संशोधन और परिवर्द्धन करके इसे सर्वांग सुन्दर तथा महत्त्वपूर्ण बना दिया है। मूल्य २० रुपए।

२. कबीर ग्रंथावली : संपादक डा० पारसनाथ तिवारी; प्रथम संस्करण। इस प्रबन्ध में अनेक संस्थाओं तथा व्यक्तिगत संग्रहों में सुरक्षित कबीर वाणी की अनेक हस्तलिखित तथा मुद्रित प्रतियों का परीक्षण कर लेखक ने कबीर की वाणी का प्रामाणिक एवं वैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत किया है। मूल्य १२ रुपए।

३. आधुनिक हिन्दी काव्यशिल्प (१९००-१९५० ई०) : लेखक डा० मोहन अवस्थी; आधुनिक हिन्दी कविता के शिल्प-पक्ष का सर्वाङ्गीण विवेचन इस ग्रन्थ में किया गया है। मूल्य ८ रुपए।

४. प्राकृत अपभ्रंश साहित्य और उसका हिन्दी साहित्य पर प्रभाव : लेखक डा० रामसिंह तोमर। मूल्य ८ रुपए।

प्राकृत और अपभ्रंश साहित्यों की विविध परंपराओं का शोधपरक विवरण देते हुए मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य पर उसके प्रभाव का वैज्ञानिक विवेचन इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ में प्रस्तुत किया गया है।

५. हिन्दी काव्य में प्रतीकवाद का विकास : लेखक डा० वीरेन्द्र सिंह। मूल्य १२ रुपए।

६. हिन्दी कोश साहित्य : लेखक डा० अचलानन्द जखमोला।

७. तुलसीदास : लेखक डा० माताप्रसाद गुप्त। संशोधित तथा परिवर्द्धित चतुर्थ संस्करण। मूल्य १६ रुपए।

८. आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास : लेखक डा० श्रीकृष्ण लाल। संशोधित तथा परिवर्द्धित चतुर्थ संस्करण। मूल्य १२ रुपए।

पुस्तकें मिलने का पता :—

हिन्दी परिषद् प्रकाशन, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

भारतीय हिन्दी परिषद् के महत्त्वपूर्ण प्रकाशन

१. हिन्दी साहित्य (प्रथम खण्ड) तीन खण्डों में विभाजित हिन्दी साहित्य के इस प्रथम खण्ड में इतिहास के प्रारम्भ से लेकर हिन्दी प्रदेश में हिन्दी भाषा और साहित्य के उदय तक के भूगोल, नृतत्त्व, धर्म, समाज, भाषा और कला-सम्बन्धी सम्पूर्ण इतिहास का पर्यवेक्षण किया गया है। मूल्य १५ रुपए।

२. हिन्दी साहित्य (द्वितीय खण्ड) इस खण्ड में प्रारम्भ से लेकर सन् १८५० ई० तक का हिन्दी साहित्य का इतिहास दिया गया है। मूल्य १६ रुपए।

३. धीरेन्द्र वर्मा विशेषांक : डा० धीरेन्द्र वर्मा के सम्मान में प्रकाशित 'हिन्दी अनुशीलन' के इस विशेषांक में भाषा, साहित्य और संस्कृति से सम्बन्धित नवीन तथा मौलिक सामग्री संकलित की गई है। मूल्य १० रुपए।

४. शोध विशेषांक : 'हिन्दी अनुशीलन' के इस विशेषांक में हिन्दी शोध की समस्याओं पर विभिन्न विद्वानों के विचार संकलित हैं तथा विभिन्न विश्वविद्यालयों में हिन्दी में स्वीकृत शोध प्रबन्धों तथा स्वीकृत विषयों की सूची दी गई है। मूल्य ५ रुपए।

५. हिन्दी अंग्रेज़ी वैज्ञानिक कोष : सम्पादक डा० सत्यप्रकाश। प्रथम दो खण्डों का मूल्य है ६ रुपए।

६. भौतिक विज्ञान कोष : संपादक डा० सत्यप्रकाश। मूल्य रु० २.१२ पै०।

पुस्तकें मिलने का पता

कोषाध्यक्ष, भारतीय हिन्दी परिषद्, इलाहाबाद-२

संचालक
उदयराज सिंह

नई धारा

विशेषांक सम्पादक
कमलेश्वर

समकालीन कहानी विशेषांक

* सर्वथा नयी दृष्टि और नये स्तर पर संयोजित।
* सबसे अधिक चर्चित विधा नयी कहानी की विविध उपलब्धियों का परिचय

२० से अधिक कहानीकारों की रचनाएँ

उषा प्रियम्वदा, राजेन्द्र यादव, अमरकांत, फणीश्वरनाथ रेणु, शिवप्रसाद सिंह, नागार्जुन, हरिशंकर परसाई, रमेश बक्षी, राधाकृष्ण, रघुवीर सहाय, शरद जोशी, सर्वेश्वरदयाल सक्सेना, कृष्ण बलदेव वैद, राजेन्द्र अवस्थी, ज्ञानरंजन, गंगाप्रसाद विमल, अवधनारायण सिंह, अनीता औलक, राजकमल चौधरी आदि····

और 'सृजन संदर्भ' के अन्तर्गत एक अतिशय महत्वपूर्ण परिसंवाद

आधुनिक संक्रमण और लेखन दृष्टि

डॉ० धर्मवीर भारती, मोहन राकेश, यशपाल, स० ही० वात्स्यायन 'अज्ञेय', अमृतलाल नागर, भगवतीचरण वर्मा, इलाचंद्र जोशी, उपेन्द्रनाथ अश्क, केशवचन्द्र वर्मा, कृष्णा सोबती, मन्नू भण्डारी, राधाकृष्ण प्रसाद, मधुकर गंगाधर, विजय मोहन आदि ३७ लेखक····

इसी के साथ 'प्रकाशन प्रसंग' पर एक और परिसंवाद

आधुनिक संक्रमण और सम्पादन दृष्टि

भैरव प्रसाद गुप्त, चन्द्रगुप्त विद्यालंकार और भीष्म साहनी
से नवलेखन के प्रकाशन पर बातचीत

कहानी परिचर्चा : धनंजय वर्मा, दूधनाथ सिंह और ममता कालिया के लेख

तिरंगा आवरण, चित्रों से भरपूर : ३२५ पृष्ठों से अधिक मूल्य ३.००

मार्च अंक में ग्राहक बनने वालों को बिना अतिरिक्त मूल्य के प्राप्त

अशोक प्रेस, पटना—६

भारत के हर भाग में पहुँचने वाला—

वा ता य न

साहित्यिक मासिक

●

१९६६ में जनवरी से दिसम्बर तक

१. वार्ता
२. भाषा
३. आज का पाठक
४. गीत
५. विदेशी कहानियाँ
६-७-८ अन्तर्प्रान्तीय कहानियाँ
९. साक्षात्कार
१०. हिन्दी कहानियाँ
११-१२. सृजन मूल्यांकन

एक प्रति का मूल्य : १.०० वार्षिक शुल्क : १०.००

● एजेन्ट्स अपने आर्डर भेज कर प्रतियाँ सुरक्षित करा लें.

● ● विज्ञापनदाता अपने आर्डर प्रत्येक माह की १५ ता० तक भेजें.

———सम्पर्क सूत्र———

५, डागा बिल्डिंग बीकानेर.

नवीनतम प्रकाशन

डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय
की
दो नवीन कृतियाँ

•

आधुनिक कहानी का परिपार्श्व

••

२०वीं शताब्दी हिन्दी साहित्य :: नए संदर्भ

तथा एक अन्य महत्त्वपूर्ण कृति

डा० हरीश कृत
आदिकालीन हिन्दी साहित्य शोध

•••

साहित्य भवन (प्रा०)लि०, इलाहाबाद

राजस्थान वित्तीय निगम

भगवानदास रोड, जयपुर

राजस्थान के औद्योगिक विकास में संलग्न

ऋण आदि की सुविधाओं के लिए मैनेजिंग डाइरैक्टर
से सम्पर्क स्थापित कीजिए ।

बच्चों को

आम तौर पर होनेवाली तकलीफ़ों
जैसे सर्दी, ज़ुकाम, पतले दस्त
पेट का बढ़ जाना आदि का.....
मुक़ाबला करने के
लिए काफ़ी ताक़त
पैदा करता है।

इन्फ़एंटीन ग्राइप वॉटर सब बच्चों के लिए हर मौसम में
आदर्श व लाभदायक है।

निर्माता : हैदराबाद केमिकल एण्ड फ़ार्मास्युटिकल वर्क्स लि०
हैदराबाद-आन्ध्र प्रदेश

क्रिस्टिना बुनाई के धागे में लिपटा हुआ प्रेम से ओतप्रोत

बम्बई वूलेन्स के अपने लाड़ले कोला (भालू) की तरह वह भी सुख और गरमाहट का अनुभव कर रहा है। क्रिस्टिना के हाथ के बुने मुलायम और गरम ऊनी कपड़े बच्चे को सर्द और तूफानी मौसम में आराम से रखते हैं। बम्बई वूलेन्स के बुनाई ऊन तेरह आधुनिक और भिन्न-भिन्न किस्मों और आकर्षक रंगों में मिलते हैं। कोला भालूका चिन्ह देख कर ही ऊन खरीदिये ■ इसे कीड़े नहीं काटते ■ इसमें सिकुड़न नहीं आती और ■ इसका रंग पक्का होता है।

'TERYLENE'
Polyester ICI Fibre

BOMBAY WOOLLEN MILLS PRIVATE LTD.

दि बम्बई वूलेन मिल्स
(प्राइवेट) लिमिटेड
२०, हमाम स्ट्रीट, बम्बई-१

maa BWM. 3885 HIN